राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन

विषय—भर्तृहरि एवं विटगिन्स्टाइन का भाषा दर्शन

एवम्

उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद् का वार्षिक अधिवेशन

विषय—शिक्षा में मूल्यों का महत्त्व

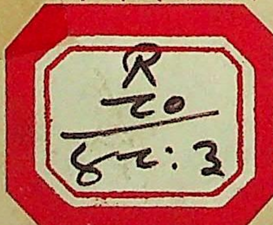
दिनांक १६, १७, १८ मई १९८७



गुरुकुल पत्रिका

(शोधपत्र विशेषांक)

विश्वविद्यालय—अनुदान आयोग के सौजन्य से



सम्पादक एवं निदेशक :
जयदेव वेदालंकार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
१९८८

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन

प्रधान—संरक्षक

प्रो. आर. सी. शर्मा

कुलपति

संरक्षक

प्रो० रामप्रसाद वेदालंकार

उपकुलपति

परामर्शदाता

डा० विष्णुदत्त राकेश

प्रोफेसर, हिन्दी विभाग

सहायक सम्पादक

डा० विजयपाल शास्त्री

प्रवक्ता, दर्शन विभाग

मूल्य : २५ रुपए वार्षिक

प्रकाशक

प्रो० वीरेन्द्र अरोड़ा, कुल-सचिव

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

अप्रैल १६८८

मुद्रक:– ओम प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, नीलखुदाना, ज्वालापुर (फोन : ३००)

विषय सूची

संस्कृत भाषा खण्ड

आंग्ल भाषा खण्ड

सम्पादकीय

जगतसृष्टा की रचना चातुरी का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण है–मनुष्य। मनुष्य विधाता की –सबसे सुन्दर रचना है। "सुन्दर हैं विहग सुमन।

मानव तुम सबसे सुन्दर तम ॥"

कविवर पन्त की इन पंक्तियों में इसी चिरन्तन सत्य का उद्घाटन हुआ है। क्या आप जानते हैं कि मनुष्य की इस सुन्दरता का रहस्य क्या हैं? मनुष्य की सर्वोत्कृष्टता का कारण है वाक् तत्त्व। शब्दों के माध्यम से विचारों की अभिव्यक्ति की योग्यता केवल मनुष्य में ही है। पशु, पक्षी आदि योनियों में यह सामर्थ्य नहीं होती। इसीलिये मनुष्यों को प्रभु की उत्कृष्ट रचना माना जाता हैं।

वाक् तत्त्व बड़ी विलक्षण वस्तु है। समस्त इन्द्रियों में वाणी ही सर्वोत्तम इन्द्रिय है। हम जो कुछ कहते हैं और सोचते हैं वह सब शब्दों के माध्यम से ही सोचते हैं। पशु सोचते नहीं हैं क्योंकि वे शब्दों का प्रयोग नहीं मानते। इसी वाक् तत्त्व से जगत् के समस्त व्यवहार समस्त प्रक्रिया, समस्त भाषा और समस्त बोलियाँ विकसित हुई हैं। भर्तृहरि कहते हैं-—

अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतोयत: ॥

अर्थात् शब्द ब्रह्म अनादि नित्य और अक्षर है। जगत् की प्रक्रिया इसी शब्द ब्रह्म का विवर्त है। महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में लिखा है—

"एकः शब्दः सम्यक्ज्ञातः सुष्ठ प्रयुक्तः
स्वर्गे लोके कामधुक् 'भवति"

अर्थात् यदि एक ही शब्द को अच्छी प्रकार जान लिया जाये और उसका सही प्रयोग किया जाये तो वह एक ही शब्द स्वर्ग लोक में कामनाओं का दोहन करने वाला होता है।

भवभूति ने भी "कामान् दुग्धे विप्रकर्ष—त्यलक्ष्मीम्" तथा "शुद्धाँ शान्तां सूनृता वाचमाहुः" कहकर वाक् तत्त्व की महिमा गायी है। यह शब्द या वाक् तत्त्व बहुत दुर्ज्ञेय है। उसका उचित प्रयोग करना जो लोग जानते हैं वे ही महर्षि और महापुरुष कहलाते हैं। ऋग्वेद में कहा गया है—

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचं
उत त्वः श्रृण्वन्न श्रृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासा ॥

अर्थात् कुछ लोग तो वाणी को देखते हुए भी नहीं देखते और कुछ लोग इसे सुनते हुए भी नहीं सुनते। किन्तु कुछ ऐसे भी स्वनामधन्य पारदृश्वा महापुरुष होते हैं जिनके समक्ष वाणी अपने रहस्यों को उसी प्रकार उद्घाटित कर देती है जिस प्रकार एक सुवासिनी लाजवन्ती नारी अपने पति के सामने निज अंगों को उद्घाटित कर देती है।

यह वेद मन्त्र वाणी की रहस्यमयता पर प्रकाश डालता है कटु अशान्त और अशुद्ध वाणी राक्षसी कहलाती है और वही जब शुद्ध शान्त और सूनृता होती है तो देवी वाक् कहलाती है। यही देवी वाक् वेद ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद् और षट् शास्त्रों के रूप में पुरातन ऋषियों के मुख से प्रकट हुई और यही वाक् पुनः भाषा और शिक्षा के रूप में लोक में अवतीर्ण हुई।

भाषा और शिक्षा के रूप में इसी वाक् तत्त्व पर विचार विनिमय करने के लिये हमने गतवर्ष १६, १७, एवं १८ मई ८७ को "राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन" तथा उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद् का अधिवेशन आयोजित किया था। उसमें विभिन्न मनीषी विद्वान् प्रतिनिधियों ने भाषा और शिक्षा पर अपने शोधपत्र वाचित किये थे। किन्हीं अपरिहार्य कारणों से उनका प्रकाशन हम तत्काल नहीं कर पाये थे। सम्प्रति गुरुकुल पत्रिका के शोध विशेषांक के रूप में हम उन लेखों को प्रकाशित कर रहे हैं।

एक तरफ सीमित साधनों का अवरोध है और दूसरी ओर प्रबल है शोध पत्रों को अविकल रूप से छापने का लोभ। इस कशमकश में यदि कुछ अनभिलषित त्रुटि हमसे हो जाये तो हम क्षम्य हैं।



कुलसचिव एवं डॉ० जयदेव वेदालंकार निदेशक कान्फ्रैन्स,
मुख्य—अतिथि सोमनाथ मरवाह जी का अभिनन्दन करते हुये ।



राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन और उत्तर-प्रदेश दर्शन परिषद् के आयोजन के लिये विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने हमको १०-१० हजार रुपये की राशि प्रदान की थी। एतदर्थ हम उनके प्रति आभार प्रदर्शित करते हैं। यदि यह सहातता हमको उपलब्ध न होती तो यह आयोजन कभी भी सम्भव न होता।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के परिद्रष्टा श्री सोमनाथ जी मरवाह का भी मैं विशेष धन्यवाद करना चाहता हूं जिन्होंने राष्ट्रीय दर्शन महा-सम्मेलन का विधिवत् उद्‌घाटन करके हमेंउपकृत किया था।

दर्शन विभाग के समस्त अध्यापक, छात्र एवं वेद तथा विज्ञान महाविद्यालय के समस्त प्राध्यापकों का भी मैं हृदय से आभारी हूँ।

अन्त में मान्य कुलपति, कुलसचिव और उपकुलसचिव महोदय के प्रति भी अपना आभार प्रदर्शित करता हूँ जिनकी सहायता और सौजन्य से यह प्रकाशन का कार्य सम्पन्न हो सका।

जयदेव वेदालंकार

आमुख

भाषा और शिक्षा राष्ट्ररूपी महाभवन के दो स्तम्भ हैं। इन्हीं दो स्तम्भों पर स्थित होकर किसी भी राष्ट्र के विकास का मार्ग प्रशस्त होता है। भाषा और शिक्षा की स्वायतत्ता राजनीतिक स्वायत्तता पर निर्भर करती है। सबल और सुशिक्षित राष्ट्रीय प्रशासन ही अपनी भाषा और शिक्षा के दृढ़ता से राष्ट्र के उत्थान में समायोजित कर सकता है। आज अपना देश स्वतन्त्र है अपना राजनीतिक प्रशासन है। फिर भी अपनी भाषा और शिक्षा को हम कोई निधारित रूप नहीं दे पाये इसका क्या कारण है, इस विषय पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। भाषा और शिक्षा में गिरावट को रोकने के लिये यदि प्रशासन कोई कदम नहीं उठाता तो अगले चरण में यह उत्तरदायित्व देश के दार्शनिक वर्ग ओर शिक्षा शास्त्र के विद्वानों पर ही आ पड़ता है।

शिक्षा में मूल्यों के महत्त्व पर भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही विद्वानों ने विचार किया है। उसी विचार-परम्परा में स्वामी दयानन्द के विचार भी अनुशीलनीय हैं। स्वामी जी ने कहा था—" वे ही धन्यवादाह और कृतकृत्य हैं कि जो अपनी सन्तानों को ब्रह्मचर्य की उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ायें। स्वामी जी के कथन पर यदि विचार किया जाये तो हम निष्कर्ष पर पहुंचेगे कि उत्तम शिक्षा वही है जिससे शारीरिक और आत्मिक गुणों का विकास हो। मेरी दृढ़ मान्यता है कि ऐसी उच्च शिक्षा का प्रचार गुरुकुलीय पद्धति के द्वारा ही हो सकता है।

सम्प्रति देश के अनेक विश्वविद्यालय शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार में अहर्निश संलग्न हैं किन्तु सत्त्व एवं सदाचार प्रधान शिक्षा प्रदान करने में गुरुकुल संस्थाएँ ही सक्षम हैं।



कुलपति महोदय मुख्य—अतिथि श्री सोमनाथ मरवाह परिद्रष्टा विश्वविद्यालय का स्वा० माल्यार्पण द्वारा स्वागत करते हुये।



ग्राज देश के समक्ष निर्धनता, विषमता ग्रज्ञान, विघटन, उत्कोच भ्रष्टाचार ग्रादि का संकट विद्यमान है। इस विकट परिस्थिति में शिक्षा में उन्नत मूल्यों की पुन: स्थापना वास्तव में एक दुष्कर कार्य है। नैतिक मूल्यों का निरन्तर ह्रास हो रहा है नैतिक मूल्यों की अवमानना करने वाली शिक्षा को सच्ची शिक्षा नहीं कहा जा सकता। शिक्षा विदों पर ग्राज यह एक उत्तरदायित्व ग्रा पड़ा है कि शिक्षा के पुरातन मूल्यों की रक्षा करते हुए उसे ग्राज की आवश्यकताओं के ग्रनुरूप भी उपयोगी बनाना है।

ग्राज प्रत्येक मानव ग्रौर प्रत्येक नारी तनाव चिन्ता ग्रौर कुण्ठाग्रों से ग्रस्त है। धन सम्पन्न व्यक्ति मानसिक शान्ति की एक झलक पाने के लिये उत्सुक है। आफिस का कर्मचारी प्रतिदित बढ़ती ग्रावश्यकताग्रों की पूर्ति हेतु अर्थ के अभाव में तनाव ग्रस्त रहता है। एक ग्रहिणी महंगाई के कारण घर की आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं कर पाती इसीलिये चिन्तित है। शिक्षा को उन सभी के लिये उपयोगी होता है। कुछ मूल्य भले ही समयानुसार परिवर्तित होते रहें किन्तु जो उसके शाश्वत मूल्य हैं ग्रौर जिनकी सार्थकता प्रत्येक युग में प्रत्येक नागरिक के लिये समान हैं वे मूल्य कभी नहीं बदलते। हमें उन्हीं मूल्यों की पुन: स्थापना करने का संकल्प लेना है। उनमें से कुछ शाश्वत मूल्य इस प्रकार हैं—

१– सा विद्या या विमुक्तये ।
२– विद्या ददाति विनयम् ।
३– विद्या विनय सम्पन्ने
ब्राह्मणे गवि हस्तिनि
शुनि चैव श्वपाके च
पण्डिताः समदर्शिनः ॥
४– समानी वः आकूतिः ।
५– संगच्छध्वं संवदध्वम् ।
६- तेन त्यक्तेन भुञ्जोथाः ।
७- ईशावास्य भिदंसर्वम् ।
८- वसुधैव कुटुम्बकम् ।
९– मित्रस्य चक्षुषा समीक्षाकहे ।
१०- सर्वे भवन्तु सुखिन । इत्यादि

आज प्रशासन देश में नयी शिक्षा नीति का प्रारम्भ करने जा रहा है। मेरा विचार है कि उस शिक्षा नीति में इस शाश्वत मूल्यों का समावेश अवश्य किया जाना चाहिये। युवा वर्ग की रचनात्मक शक्ति का लाभ उठाने के लिये शिक्षा को ध्येयोन्मुखी बनाये जाने की आवश्यकता है।

इस विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग इस दिशा में समय-समय पर प्रयास करता रहता है। अतः वह धन्यवादार्ह है। गत वर्ष मई १९८७ में दर्शन विभाग के तत्त्वावधान में "भर्तृहरि एवं विटगिन्स्टाइन का भाषा दर्शन" इस विषय पर" राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन" तथा "शिक्षा में मूल्यों का महत्त्व" इस विषय पर उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद् का सफल आयोजन किया था। उसमें प्रतिष्ठित विद्वान् प्रतिनिधियों ने अपने शोध पत्रों का वाचन किया था। गुरुकुल पत्रिका के इस अंक में उन्हीं शोध पत्रों का प्रकाशन किया जा रहा है। जिससे सभी पाठकजन उनका लाभ उठा सकें।

रामप्रसाद वेदालंकार
आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय



मुख्यातिथि श्री सोमनाथ जी मरवाह कान्फ्रेन्स का उद्घाटन करते हुये।

स्वागत भाषण

श्रद्धा के योग्य अध्यक्ष महोदय,

एवं इस शुभ अवसर पर एकत्रित सत्पुरुषों तथा विद्वज्जनों !

आज यह महान् पुण्य दिवस हैं कि हम सब नगाधिराज हिमगिरि के विपुल प्रांगण में सतत प्रवहमान पतित पावनी देवनदी गंगा के रमणीय तीर पर प्रतिष्ठित गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के तत्त्वावधान में समायोजित 'राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन' एवं 'उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद्' में भाग लेने के लिये यहां समुपस्थित हुए हैं। इस संगोष्ठी के माध्यम से 'भर्तृहरि एवं विटगिन्स्टाइन का भाषा दर्शन' तथा शिक्षा में मूल्यों का महत्त्व' इन दो विषयों पर सम्मिलित विचारों के आदान-प्रदान का शुभावसर हम सबको प्राप्त होगा ।

उपर्युक्त दोनों विषयों पर विचार करने का सबसे उपयुक्त स्थान मेरी दृष्टि में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ही है। क्योंकि अमर बलिदान स्वामी श्रद्धानन्द ने जिस महान् लक्ष्य की उपलब्धि के लिये इस संस्था की स्थापना की थी, यह संगोष्ठी उसी दिशा में प्रयास करने जा रही है। यह देखकर महान् क्लेश होता है कि शिक्षा का जो लक्ष्य मानव और समाज का बहुआयामी विकास है, वह आज कहीं गुम होकर रह गया हैं। सर्वांगीण विकास की दिशा में भारत के शिक्षाविद् अहर्निश प्रयास रत होकर भी उस लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं, यह निश्चित ही एक चिन्तनीय विषय है। शिक्षा में उदात्त मूल्यों का अभाव सा हो गया है। आज का स्नातक शिक्षित होकर स्वयम् को असहाय और परवश सा अनुभव करता है। वह समाज को कुछ दे सकने की स्थिति में न होकर समाज से ही कुछ प्राप्त करने की अपेक्षा रखता है। शिक्षा के वास्तविक लक्ष्य और उदात्त मूल्यों की पुनः स्थापना का दुष्कर कार्य एक दार्शनिक ही भली प्रकार कर सकता है, ऐसी मेरी निश्चित धारणा है।

वैज्ञानिक प्रगति ने मानव जाति को सुख और साधन से सम्पन्न तो बनाया है किन्तु ऐसा प्रतीत होता हैं जैसे मानव की मानवता और उसकी बौद्धिक पात्रनता का

विज्ञान ने हरण कर लिया है। यह शिक्षा में नैतिक मूल्यों का अभाव ही इसका प्रधान कारण है कि वैज्ञानिक ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर भी मानव तनाव कुण्ठा और असन्तोष जैसे मानसिक रोगों से आक्रान्त है। ऋषियों के आदर्श कहानी की बातें होकर रह गये हैं। "मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षत्" वसुधैव कुटुम्बकम्" "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः" "समानी वः आकूतिः इत्यादि प्राचीन मान्यताओं का जैसे अब कोई महत्त्व ही नहीं रह गया है।

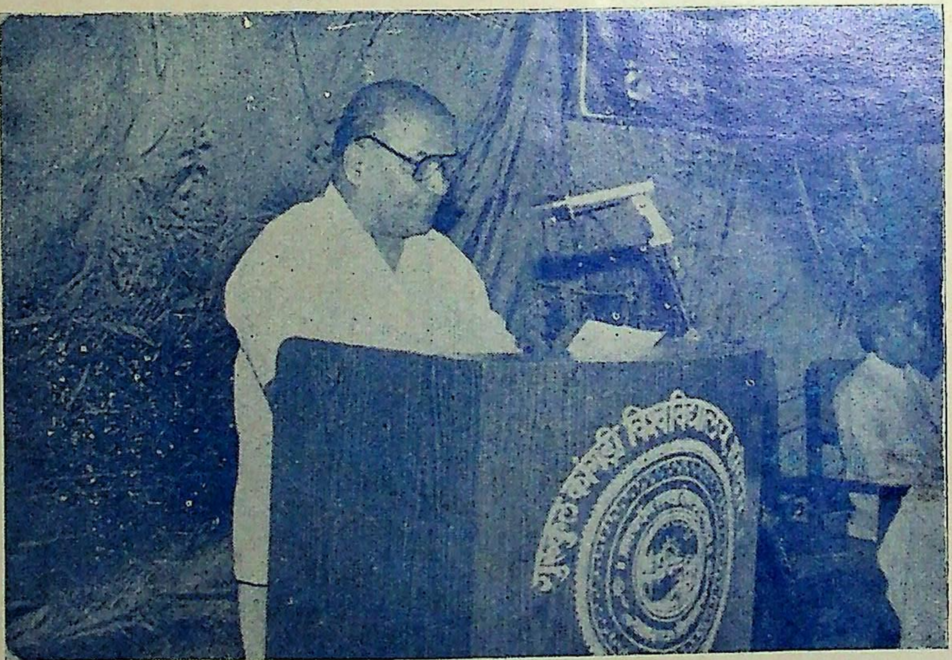
मैं आशा करता हूं कि इस सम्मेलन में उपस्थित समस्त दार्शनिक विद्वान् भाषा और शिक्षा की इन समस्याओं पर समवेत विचार करेंगे और कोई ऐसा सर्वग्राह्य समाधान खोजने में समर्थ हो सकेंगे जिससे यह भारत देश अपनी गरिमा को पुनः प्राप्त कर सके और विश्व का शीर्षमणि कहला सके।

भारत का गौरव और उसकी वास्तविक निधि दार्शनिक वर्ग ही है। समस्याओं का बेहतर समाधान एक सच्चा दार्शनिक ही खोज सकता है। मैं इस विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग को हार्दिक बधाई देता हूं जिसने इस सम्मेलन का गुरुतद भार उठाने का साहस किया है।

दर्शन विभाग ने अध्यक्ष डा० जयदेव वेदालंकार और उनके विभागीय सहयोगी आपकी आवसीय सुविधा के लिये यथाशक्ति जो प्रयास कर रहे हैं उसके लिये उनका मैं हार्दिक धन्यवाद करता हूं।

इस संस्था में आप सबका स्वागत है। आपके आगमन से हमारा गौरव बढ़ा है। हमारे पास सीमित साधन है। आपके स्वागत में कुछ त्रुटियां रह जाना स्वाभाविक है। उदारमना आप सब विद्वान् लोग उन त्रुटियों पर ध्यान न देकर आप अपनी विचार चर्चा में निरत रहेंगे ऐसा मुझे विश्वास है। इस आयोजन की सफलता के लिये मैं कामना करता हूं, और आप सबका एक बार पुनः धन्यवाद करता हूं।

प्रो० आर० सी० शर्मा
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय



प्रो० आर० सी० शर्मा, कुलपति विश्वविद्यालय स्वागत भाषण देते हुये ।

उद्घाटन

श्री कुलपति महोदय,

मनस्वी चिन्तन शील प्रतिनिधिगण

एवं समुपस्थित समस्त श्रोता समूह !

राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन एवं उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद् जिसका आयोजन इस विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग ने किया है, में भाषा एवं शिक्षा के मूल्यों पर विचार करने के लिये आप सब लोग दूर-दूर से यहाँ एकत्रित हुए हैं। इस पुण्य अवसर पर उद्घाटन भाषण देने के लिये और इस कान्फ्रेन्स का आरम्भ करने के लिये मुझे आमन्त्रित कर जो गौरव सम्मेलन के आयोजकों ने प्रदान किया हैं, उसके लिये मैं उनका धन्यवाद करता हूं।

"भर्तृहरि एवं विटगिन्स्टाइन का भाषा दर्शन" एक विशुद्ध दार्शनिक चिन्तन का विषय है। इस सन्दर्भ में मुझे केवल इतना ही कहना हैं कि प्राचीन भारत के मनस्वी विचारक एवं प्रख्यात व्याकरण शास्त्री भर्तृहरि ने भाषा की उत्पत्ति एवं विकास के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त निर्धारित किये थे वे आज भी उतने ही पूर्ण हैं जितने पुरातन काल में थे। विश्व की वर्तमान समस्याओं में से एक समस्या भाषा की भी है। कोई भी भाषा विचाराभिव्यक्ति की एक माध्यम मात्र है। किन्तु आज भाषा का सम्बन्ध जाति और समाज के विभाजन से जुड़ गया है। सचमुच राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांधने का एक सशक्त माध्यम भाषा ही होती है। अनेक भाषायें समाज और राष्ट्र को विखण्डित करती हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा था—'निज भाषा उन्नति अ है सब उन्नति को मूल'। यह बात पूर्णतया सत्य है। भाषा की इस समस्या पर भी यदि आज आप चिन्तन करेंगे और कोई सटीक समाधान ढूढेंगे, तो यह वर्तमान सन्दर्भ में महान् उपादेयता होगी।

"शिक्षा में मूल्यों का महत्त्व" यह विषय आज के युग का सबसे अधिक उपयोगी विषय है। शिक्षा में प्राचीन मूल्यों की निरन्तर अवनति होती जा रही है। समाज के बहुआयामी विकास के लिये, आचरण की पावनता के लिये और हृदय की विशालता तथा भव्यता के लिये शिक्षा में उच्चतम मूल्यों का होना परम अनिवार्य है।

भारत की प्राचीन शिक्षा गुरुकुलों के माध्यम से बच्चों को दी जाती थी। शिक्षा की यह पद्धति ही वास्तविक उन्नति का करण था। जो शिक्षा मन, बचन और कर्म में पावनता सिखाती हैं।

सदाचार और सद्भावना को जन्म देती है वही सच्ची शिक्षा है। ऐसी शिक्षा देने के लिये ही स्वामी श्रद्धानन्द ने इस गुरुकुल की स्थापना की थी। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि उसी गुरुकुल के प्राँगण में बैठकर आज फिर उसी शिक्षा के मूल्यों पर विचार करने के लिये आप सब विद्वान् लोग एकत्रित हुये हैं।

मैं आप सभी को ध्यान दिला देना चाहता हूं कि गुरुकुलीय शिक्षा का प्रयोजन बालक के सादा शाकाहारी भोजन, सादा रहन सहन, उच्चतम विचार तथा तप और त्याग से युक्त जीवन-यापन करना सिखाना है। हमारे ऋषियों ने मांसाहार को सर्वथा वर्जित सिद्ध किया है। सामिष भोजन से मानसिक वृत्तियां कलुषित होती हैं। मांसाहारी पुरुष सदाचारी हो ही नहीं सकता। इसीलिये आज शिक्षा में इस बात का आवश्यकता है कि वह बालक में सामिष भोजन के प्रति घृणा और शाकाहार में अभि-रूचि उत्पन्न करें।

सभ्यता संस्कृति और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में भारत वर्ष विश्व का गुरू कहलाता था। संसार के अग्रजन्मा अपने-अपने चरित्र की शिक्षा लेने के लिये भारत की तरफ ही आगमन किया करते थे। और यहाँ के ऋषियों के चरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण किया करते थे। इसका कारण यही था कि यहां की शिक्षा में भव्य भावों का अभूतपूर्व संगम था। किन्तु दुर्भाग्य से उसी भारत में भाषा एक समस्या बनी हुई है। आजादी के चालीस वर्ष बाद भी हम देश की एक भाषा को स्थापना राष्ट्र भाषा के रूप में नहीं कर पाये हैं।

मुझे विश्वास हैं कि शिक्षा में मूल्यों के महत्त्व पर आप सब विद्वज्जन गम्भी-रता से विचार करेंगे और अपने निष्कर्षों से राष्ट्र को परिचित करायेंगे।

मैं राष्ट्रीय दर्शन महा सम्मेलन और उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद् के आयोजन का विधिवत् उद्घाटन करता हूं। इस सम्मेलन के आयोजकों को और समस्त प्रतिनिधियों का धन्यवाद करता हूं तथा इसकी सफलता हृदय से चाहता हूं।

सोमनाथ मरवाह
परिद्रष्टा
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय



कुलसचिव महोदय, स्वागत करते हुये।



वसंतराव पाटील

राज भवन, जयपुर

Raj Bhawan, Jaipur

राज्यपाल, राजस्थान
GOVERNOR OF RAJASTHAN

दिनांक अप्रैल १७, १९८७

सन्देश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के दर्शन विभाग के तत्वावधान में श्री भर्तृहरि और श्री विट्गेन-स्टाइन के दर्शन पर राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया जा रहा है तथा १६ से १८ मई ८७ तक हरिद्वार में ही उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद् का १२ वाँ अधिवेशन होगा।

भारतीय दर्शन शास्त्र ने अपनी मौलिकता से विश्व के सभी देशों को मानवता की सुख शान्ति का मार्ग दर्शाया है। इसमें अध्यात्मवाद की जो महत्ता हैं वह वस्तुतः अनुकरणीय है।

मैं इस राष्ट्रीय सम्मेलन तथा अधिवेशन की पूर्ण सफलता की कामना के साथ आशा करता हूं कि इस अवसर पर प्रकाश्य स्मारिका बहुत जनोप-योगी सिद्ध होगी।

वसंतराव पाटील

RAJ BHAVAN,PUNJAB,
CHANDIGARH-160019

DEPUTY SECRETARY TO GOVERNOR

S. S. RAY
GOVERNOR OF PUNJAB

MESSAGE

The Governor of punjab is pleased to learn that the Department of Philosophy of the Gurukul Kangri University, Haridwar, is holding the 12th Session of the National Conference and the Uttar Pradesh Council of Philosophy from the 16th to the 28th of May, 1987 on the subject, 'The philosophy of Bhartrihari and Wittgenstein.'

The Governor sends his felicitations to the organisers and participants, and wishes the Conference all success.

(Amita Paul)
Deputy Secretary
to the Governor of Punjab,



No..............1378....../MOS(PNG)87
पैट्रोलियम एवं प्राकृतिक गैस राज्य मंत्री,
भारत
MINISTER OF STATE FOR PETROLEUM
& NATURAL GAS
INDIA

नई दिल्ली १३ अप्रैल, १९८७
New Delhi 19

"संदेश"

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय दर्शन विभाग के तत्वावधान में राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन "श्री भर्तृहरि और विट्गंनस्टाइन का दर्शन" एवं उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद् के बारहवें अधिवेशन का आयोजन कर रहे हैं।

इस कार्यक्रम की सफलता के लिए मैं शुभकामना करता हूं।

(ब्रह्म दत्त)

No. 585/PS/MOS (EC)/87



सहायक निजी सचिव
शिक्षा एवं संस्कृति राज्य मंत्री
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
भारत सरकार
नई दिल्ली-११०००१
Private Secretary to The
Minister of State for Education & Culture
Ministry of Human Resource Development
Government of India
New Delhi-110001

8 मई, 1987

प्रिय महोदय,

शिक्षा एवं संस्कृति राज्य मंत्री महोदया को सम्बोधित गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग द्वारा 16 मई से 18 मई, 1987 तक आयोजित राष्ट्रीय कांग्रेस एवं उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद् का 12 वां वार्षिक अधिवेशन के दिनांक 16 मई, 87 को प्रातः 11-00 बजे उद्घाटन हेतु उनकी सहमति के सम्बन्ध में आपका दिनांक 4-5-1987 का निमत्रण-पत्र प्राप्त हुआ। पूर्व निर्धारित कार्यक्रमों में व्यस्त होने के कारण इस अवसर पर मंत्री महोदया के लिए वहां आना संभव नहीं होगा। मन्त्री महोदया इस अवसर पर अपनी शुभकामनायें प्रेषित कर रही हैं।

सादर—

आपका
सुशील शर्मा

श्री आर० सी० शर्मा,
कुलपति,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार-249404

No. CMS-D-622



23 APRIL 1987

CHIEF MINISTER GUJRAT STATE
सचिवालय, गाँधीनगर

सन्देश

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के दर्शन विभाग के तत्वावधान में राष्ट्रीय दर्शन महा-सम्मेलन एवं उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद का बारहवाँ अधिवेशन दिनांक १६, १७ और १८ मई १९८७ को आयोजित हो रहा है।

मुझे विश्वास है कि उक्त अधिवेशन विद्यार्थियों, दार्शनिकों तथा दर्शन के अन्य जिज्ञासुओं के लिए अति उपयोगी सिद्ध होगा।

अधिवेशन की सफलता के लिए मैं हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ।

अमर सिंह चौधरी

डॉ० जयदेव वेदालंकार,
अध्यक्ष, दर्शन विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार (उत्तर प्रदेश)

मुख्य मंत्री
बिहार

पटना

दिनांक……२६-४-८७
पत्र संख्या ३२० मु० मं० स०

'सन्देश'

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार के दर्शन विभाग के तत्वावधान में राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन एवं उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद् का बारहवां अधिवेशन दिनांक १६, १७, और १८ मई, ८७ को होने जा रहा है जिसमें विद्वानों द्वारा दर्शन विषय पर विचार गोष्ठी एवं शोध पत्र भी समर्पित किये जायंगे, जिसका लाभ छात्रों के अतिरिक्त समाज के अन्य वर्गों को भी मिलेगा।

मैं इस समारोह की मंगल कामना करते हुए स्मारिका प्रकाशन की सफलता की कामना करता हूँ।

(विन्देश्वरी दूबे)

डा० जयदेव वेदालंकार
अध्यक्ष, दर्शन विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मध्य प्रदेश शासन
भोपाल, ४६२००४
२२ अप्रैल, ८७

मुख्य मन्त्री

'सन्देश'

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, के दर्शन विभाग के तत्वावधान में राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन और उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद् के बारहवें अधिवेशन का आयोजन किया जा रहा है।

मुझे आशा है कि सम्मेलन में जीवन के उस सत्य का दिग्दर्शन कराने का प्रयास किया जाएगा जो समाज से विद्वेष और हिंसा की भावना को दूर करने में सहायक बनेगा।

अधिवेशन के सफल आयोजन के लिए शुभकामनाएं।

(मोती लाल वोरा)

D.O.No.................

SHARDA RANI

Education Minister,
Haryana, Chandigarh.
Date 16487

सन्देश

मुझे यह जानकर बड़ा हर्ष हुआ कि गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, दर्शन विभाग दिनांक 16, 17 और 18 मई, 1987 को राष्ट्रीय महा सम्मेलन का आयोजन कर रहा है।

ऋषि मुनियों के देश भारत वर्ष में वेद, शास्त्र, उपनिषद् व दर्शन का अपना ही महत्व रहा है। इन वैदिक ग्रन्थों ने न केवल भारतीय समाज में बल्कि विश्व के कौने-कौने में भारतीय सभ्यता, संस्कार और शिष्टाचार की अमिट छाप छोड़ी है। भारतीय साधु-सन्तों ने दर्शन और उपनिषदों के ज्ञान से विश्व को आश्चर्यचकित कर दिया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ओर आपकी संस्था द्वारा आयोजित यह पर्व भी अपनी महत्व पूर्ण भूमिका निभायेगा।

स्मारिका के प्रकाशन की सफलता की कामना करती हुई आयोजन पर अपनी शुभ इच्छा भेजती हूं।

शारदा रानी

Private Secretary To
आचार्य के० सच्चिदानन्द मूर्ति
उपाध्यक्ष
Professor K. SATCHIDANANDA MURTY
Vice Chairman

Phone : 331 8849
Grams : Unigrants
Telex : 3165913
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग
बहादुर शाह जफर मार्ग
नई दिल्ली-११० ००२
University Grants Commission
Bahadur Shah Zafar Marg
New Delhi-110 002

No. F.1–28(5)/87(VCm) 8 May 1987

Dr. J.D. Vedaiankar
Director
National Conference
Philosophy of Bhartriahari
and Wittgenstein
Gurukul Kangri Vishwavidyalaya
Haridwar.

Dear Sir,

This has reference to your letter No. 291 dated 25.4.1987 addressed to Professor K. Satchidananda Murty, Vice - Chairman, UGC.

The Vice Chairman is glad that your Vishwavidyalaya is organising a conference on the Philosophies of Bhartrihari and Wittgenstein as well as on the Philosophies of Values.

He wishes the conference all success and extends his greetings to you and other members of the conference.

Yours faithfully,

(R.K. Sharma)



रमेश चन्द्र,
आयुक्त, मेरठ मंडल

आयुक्त निवास,
मेरठ

दिनाँक 11 मई, 1987

प्रिय,

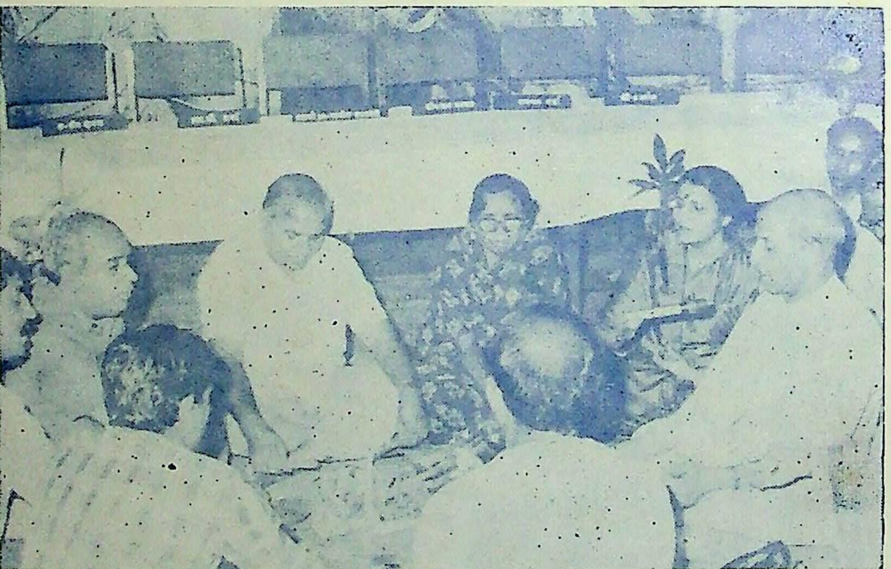
आपका पत्र सं० बी०सी०/वी-5 Dt, 11-5-1987 प्राप्त हुआ जिससे गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग द्वारा दिनांक 16 मई से 18 मई, 1987 तक राष्ट्रीय कांफ्रेन्स एवं उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद् के 12 वें अधिवेशन के आयोजन की जानकारी हुई। इस कांफ्रेन्स में मुझे आमन्त्रित किया गया है। जिसके लिए मैं आभारी हूं किन्तु मुझे खेद है कि कतिपय अपरिहार्य कारणों से मेरा इस अवसर पर उपस्थित होना सम्भव नहीं हो सकेगा।

आयोजन की सफलता के लिए हमारी हार्दिक शुभकामनाएं स्वीकार करें।

भवदीय,
(रमेश चन्द्र)

श्री आर० सी० शर्मा,
कुलपति,
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार-249404





राष्ट्रीय दर्शन महासम्मेलन के अवसर पर मान्य कुलपति, श्रीमति सरला शर्मा, कुलसचिव डा० वीरेन्द्र अरोड़ा और आचार्य श्री रामप्रसाद जी अन्य प्रतिनिधियों के साथ यज्ञ करते हुये ।



आर्य समाज की संस्कृत साहित्य को देन

प्रो० भवानीलाल भारतीय

भारत के नवजागरण के आन्दोलनों में आर्यसमाज की स्थिति अपने समान धर्मा अन्य आन्दोलनों से पर्याप्त भिन्न है । ब्रह्मसमाज' थियोसोफी तथा रामकृष्ण मिशन आदि ने जहां अपने वैचारिक चिन्तन, कार्यप्रणाली आदि के लिये पश्चिम से बहुत कुछ वहां आर्यसमाज विशुद्ध रूप से भारतीय सभ्यता संस्कृति, भाषा तथा विचारधारा से जुड़ा रहा । यही कारण है कि आर्यसमाज ने प्राचीन संस्कृत साहित्य से प्रेरणा लेते हुए अपनी कार्य पद्धति का निर्धारण किया तथा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में संस्कृत भाषा तथा उसके साहित्य को समुन्नत बनाने में योग दिया ।

सर्व प्रथम यदि हम आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के संस्कृत विषयक अवदान का ही विचार करें तो वह स्पष्ट होता है कि उनके द्वारा देववाणी का प्रचार ही नहीं हुआ किन्तु इस भाषा के साहित्य के निर्माण में भी उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है । स्वामी दयानन्द की मातृभाषा गुजराती थी । हिन्दी का अभ्यास उन्होंने बहुत बाद में किया, जब कि उन्हें वह बताया गया कि बिना लोक भाषा को अपनाये, वे अपनी विचारधारा को अधिकाधिक जनता तक पहुचाने में समर्थ नहीं होंगे । स्वामी दयानन्द ने संस्कृत में जिस साहित्य का प्रणयन किया उसे निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—(१) वेद भाष्य भूमिका (२) खण्डन मण्डन के ग्रन्थ (३) वेदांग प्रकाश आदि व्याकरण ग्रन्थ । सर्व प्रथम उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्य—भूमिका की रचना कर वेदार्थ के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया । इस भूमिका में लगभग ५० प्रकरण है जिनमें स्वामी जी ने वेद के स्वरूप, उसकी इयत्ता वेद संज्ञा, वेद के विवेचनीय विषय तथा वेदार्थ प्रणाली जैसे विषयों

पर अपने विचार प्रमाण परस्पर प्रकट किये हैं। भूमिका की भाषा सरल, प्रांजल तथा प्रभाव पूर्ण है। स्वामी दयानन्द ने वेदों की चारों संहिताओं पर भाष्य रचना नहीं की। उनके द्वारा ऋग्वेद के के ५६४९ मन्त्रों तथा सम्पूर्ण यजुर्वेद पर भाष्य का हिन्दी अनुवाद पं० भीमसेन, पं० ज्वालादत्त तथा पं० दिनेशराम आदि साधारण कोटि के विद्वानों का किया हुआ है जो कहीं-कहीं मूल से विरूद्ध होने के कारण असंगत भी हो गया है। स्वामी दयानन्द ने सर्वप्रथम "भागवत् खण्डनम्" नामक अपना प्रथम ग्रन्थ संस्कृत में लिखा था। कालान्तर में उन्होंने सहजानन्द प्रवर्तित स्वामी नारायण मत तथा बल्लभाचार्य प्रतिपादित वैष्णव मत के खण्डन में संस्कृत में ग्रन्थ लिखे। शंकरवेदान्त के खण्डन में लिखा गया उनका वेदान्तिध्वान्तनिवारण भी संस्कृत का एक सुन्दर प्रकरण ग्रन्थ हैं। काशी शास्त्रार्थ का विवरण भी मौलिक रूप से संस्कृत में ही लिखा गया था। वेदांग प्रकाश की रचना संस्कृत भाषा के ज्ञान की दृष्टि से की गई। "संस्कृत वाक्य प्रवोध" जहां संस्कृत भाषा में वार्तालाप का अभ्यास करने में सहायता देता है। वहां उससे स्वामी जी की विचारधारा का भी ज्ञान अनायास ही हो जाता है।

स्वामी दयानन्द के दिवंगत होने के पश्चात् भी संस्कृत में साहित्य निर्माण की परम्परा आर्यसमाज में जारी रही। स्वामी जी द्वारा प्रवर्तित वेद भाष्य प्रणाली का ही अनुसरण करते हुए कहा—महोपाध्याय पं० आर्यमुनि, पं० शिवशंकर शर्मा, स्वामी ब्रह्ममुनि तथा पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने ऋग्वेद के भाष्य (अंशतः और पूर्णतः) लिखे वहां तुलसीराम स्वामी, पं० वीरेन्द्र शास्त्री, पं० वैद्यनाथ शास्त्री आदि विद्वानों ने सामवेद के भाष्यों की रचना की। यजुर्वेद पर तो अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न भाष्य लिखे। अथर्ववेद पर सर्वांगीण भाष्य त्रिवेदी उपाधिधारी पं० क्षेमकरणदास ने लिखा। वेदांगों पर अनेक प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये। मौलिक ग्रन्थ की टीकायें, व्याख्यायें तथा विवेचनाएं प्रस्तुत की गई तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ। निरुक्त पर पं० राजाराम, पं० भगवतदत्त, पं० चन्द्रमणि विद्यालंकार तथा आचार्य विश्वेश्वर ने परिश्रम से पूर्ण टीकायें लिखीं। कल्प सूत्रों पर अधिक कार्य नहीं हुआ। तथापि पं० भीमसेन शर्मा ने कुछ गृह्यसूत्रों का अनुवाद किया। इधर पं० युधिष्ठिर मीमांसक की देखरेख में कतिपय श्रौतसूत्र का सम्पादन कार्य हुआ है। स्वामी

सत्यप्रकाश ने शुल्ब सूत्रों का सम्पादन किया है। व्याकरण के अन्तर्गत अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य की टीकायें लिखी गई तथा अन्य ग्रन्थों की व्याख्या एवं विवेचना को लेकर भी ग्रन्थ लिखे गये। संस्कृत भाषा के शिक्षण के लिये अनेक छोटे बड़े ग्रन्थों की रचना हुई। पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने अष्टाध्यायी पद्धति से संस्कृत सीखने की अनुभूत सरलतम विधि का आविष्कार किया तथा एतद्-विषयक ग्रन्थ भी लिखा।

संस्कृत साहित्य में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त तथा मीमांसा को वैदिक एवं आस्तिक दर्शनों की संज्ञा दी गई है। आर्यसमाज के विद्वानों ने इन दर्शनों पर अनेक मौलिक तथा टीका आदि ग्रन्थ लिखकर संस्कृत के दार्शनिक साहित्य की अभिवृद्धि की है। पं० तुलसीराम स्वामी, स्वामी दर्शनानन्द, पं० आर्यमुनि, पं० राजाराम आदि ने षड्दर्शन के मूल सूत्रों पर अपनी टीकायें प्रस्तुत की है। दर्शनानन्द जी की उर्दू व्याख्याओं ने संस्कृत के दर्शन वाङ्मय को उर्दू भाषियों तक पहुंचाया। सांख्य-दर्शन के इतिहास को लिखकर पं० उदयवीर शास्त्री ने इस दर्शन के अध्ययन में एक नवीन आयाम उपस्थित किया। इसी प्रकार वेदान्त-दर्शन का इतिहास लिखकर उन्होंने वेदान्त दर्शन पर भाष्य लिखने वाले आद्य शंकराचार्य का काल निरूपण करने में कुछ महत्वपूर्ण स्रोतों का उपयोग किया। मीमांसा दर्शन पर आर्य-समाज के विद्वानों का लेखन मात्रा की दृष्टि से तो नहीं, किन्तु गुणवत्ता की दृष्टि से प्रशंसनीय है। पं० आर्यमुनि ने मीमांसा पर भाष्य लिखा, भयाशंकर शर्मा का मीमांसा भाष्य गुजराती भाषा में है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने शाबर भाष्य सहित मीमांसक दर्शन की सुगम व्याख्या प्रस्तुत की है। दर्शनों पर मौलिक ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। पं० जयदत्त शास्त्री ने सिद्धान्त-शतक लिखकर वैदिक दर्शन को श्लोकवद्ध किया है। पं० लक्ष्मीदत्त दीक्षित के "अनादितत्वदर्शन तथा तत्वमसि" जैसे ग्रन्थों में सूत्र शैली का महत्वपूर्ण प्रयोग मिलता है। वे प्रथम अपने कथन को मौलिक सूत्र के रूप में उपस्थित करते हैं, तदन्तर उसकी विस्तृत व्याख्या स्वयं ही प्रस्तुत करते हैं।

रामायण महाभारतादि आर्ष काव्यों और प्रामाणिक इतिहास ग्रन्थों की टीका, व्याख्या एवं विवेचना लिखने में भी आर्य विद्वानों ने प्रभूत परिश्रम किया है। पं० राजाराम "पं० आर्यमुनि" पं० चन्द्रमणि आदि ने रामायण की व्याख्यायें

लिखी तथा उनके संक्षिप्त सम्पादित संस्करण प्रस्तुत किया । वाल्मीकीय रामायण के अनुपम विद्वान् अखिलानन्द ब्रह्मचारी ने युद्धकाण्ड को छोड़कर इस ग्रन्थ पर प्रामणिक टीका लिखी जो रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित हुई है । स्वामी जगदीश्वरानन्द ने रामायण तथा महाभारत के सम्पादित संक्षिप्त संस्करण विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका के साथ प्रकाशित किये हैं। महाभारत के ही पृथक् अंश रूप भगवद्गीता, विदुर नीति आदि भी आर्यसमाज में सम्मानित हैं। अनेक विद्वानों ने इनकी व्याख्या एवं विवेचना की है पं० भीमसेन शास्त्री ने संस्कृत में गीता का भाष्य लिखा । स्वामी आत्मानन्द को वैदिक गीता प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़ कर संगृहीत की गई है। इन पंक्तियों के लेखक द्वारा सम्पादित आर्ष गीता में गीता की ऐतिहासिकता, गीता की पृष्ठभूमि तथा गीता में प्रतिपादित विषयों की सम्यक् विवेचना की गई है। इसी प्रकार चाणक्य नीति शुक्रनीति पंचतंत्र. हितोपदेश, भर्तृहरि शतक आदि नीति ग्रन्थों की टीकायें व्याख्यायें तथा उनके आलोचनात्मक संस्करण प्रस्तुत करने में आर्यसमाजी विद्वानों ने पर्याप्त श्रम किया है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के शास्त्रीय साहित्य की अभिवृद्धि संरक्षण, संवर्धन तथा प्रचार में आर्य विद्वानों का योगदान प्रशंसनीय रहा है।

अब तक हमने लौकिक साहित्य से भिन्न शास्त्रीय साहित्य का विचार किया था। साहित्य शास्त्र में काव्य तथा साहित्य का अनेकत्र पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त किया है। रसात्मक वाक्य को ही काव्य को ही काव्य की संज्ञा दी गई है। सामान्य कथन से भिन्न व्यंजना एवं ध्वनि संयुक्त वाक्य ही काव्य के क्षेत्र में परिगणित होते हैं । आर्यसमाज में संस्कृत के ऐसे कवियों का बाहुल्य है जिन्होंने महाकाव्य, खण्डकाव्य तथा मुक्तक काव्य के क्षेत्रों में रस पूर्ण कृतियों की रचना की है । महाकवि अखिलानन्द शर्मा, पं० मेधाव्रताचार्य तथा पं० दिलीपदत्त शर्मा ने स्वामी दयानन्द के जीवन एवं व्यक्तित्व को आधार बना कर महाकाव्यों का प्रणयन किया । गंगाप्रसाद उपाध्याय का आर्योदय काव्य, पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्ड प्रणीत महापुरुष-कीर्तनम् तथा महिलामविकीर्तनम् रसात्मक—साहित्य के सफल उदाहरण हैं। दयानन्द लहरी, यतीन्द्रशतकन् "महात्ममणिमंजूषा गुरु कुलशतक, ब्रह्म वर्यशतक, अभिनव काव्यम् जगज्ज्योति, विरजानन्द चरितम् आदि संस्कृत काव्य आर्यसमाज के



समारोह के मान्य अध्यक्ष डॉ० सन्तोष कुमार प्रोफेसर
दर्शन शास्त्र दिल्ली विश्वविद्यालय, अध्यक्षीय
भाषण प्रस्तुत करते हुये।

संस्कृत कवियों की काव्य सृष्टि को प्रमाणित करते हैं । पं अखिलानन्द ने स्वामी दयानन्द रचित आर्योद्देश्य रत्नमाला तथा आर्यसमाज के नियमों का काव्यानुवाद किया है। स्वामी जी के आद्य शिष्य पं० ज्वालादत्त शर्मा कृत "दर्शनियम शिखरिणी" एक उत्कृष्ट काव्य कृति है । जोधपुर निवासी पं० देवीचन्द्र शास्त्री रचित अभिनव महिम्न पुष्पदन्ताचार्य कृत शिव महिम्न की शैली में लिखा गया है ।

काव्य की ही भांति गद्य लेखन में भी आर्यसमाज के संस्कृत कवियों ने नूतन उपलब्धियां अर्जित की है । मेधाव्रताचार्य में "कुमदिनीचन्द्र" उपन्यास लिख कर संस्कृत में इस नवीन गद्य का सूत्रपात किया । आनन्दवर्धन विद्यालंकार का उपन्यास "कुसुम लक्ष्मी" आधुनिक सामाजिक परिवेश की पृष्ठभूमि को लेकर लिखा गया है । आचार्य विद्या निधि शास्त्री ने महर्षि दयानन्द चरितम्" लिखकर संस्कृत के समास प्रधान कादम्बरी शैली के गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है । संस्कृत में निबन्ध लिखने के प्रयोग तो अनेक प्रकार से हुए हैं। शास्त्रीय विषयों से सम्बन्धित निबन्धों के अतिरिक्त लौकिक, सामाजिक विषयों की विवेचना से युक्त निबन्धों की संख्या भी पर्याप्त है। पं० युधिष्ठर मीमांसक के शास्त्रीय निबन्ध महत्वपूर्ण हैं। संस्कृत में शास्त्रीय करने की प्रणाली का पुनरूज्जीवित कर आर्यसमाज ने संस्कृत को व्यवहारोपयोगी भाषा बताया है। कालान्तर में इन संस्कृत शास्त्रार्थों को पुस्तकाकार भी प्रकाशित किया गया है। इन ग्रन्थों में व्यंग्य, विनोद, कटूक्ति, दृष्टान्त, आभाणक आदि के प्रयोगों से इनकी रोचकता की वृद्धि हुई है । गद्य के प्रचार में पत्र–पत्रिकाओं का योगदान महत्वपूर्ण होता है। आर्यसमाज ने भारतोदय, गुरुकुल पत्रिका, आदि पत्रिकाओं का प्रकाशन कर संस्कृत पत्रकारिता को एक नवीन दिशा प्रदान की है। गुरुकुलों के मुख पत्रों के रूप में प्रकाशित इन पत्रिकाओं से संस्कृत भाषा का अपूर्व प्रचार हुआ है।

संस्कृत में सर्जनात्मक मौलिक साहित्य लिखने के साथ-साथ आर्यसमाज ने प्राचीन साहित्य के अनुसंधान, शोध तथा सम्पादन के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय कार्य किया है। डी० ए० वी० कालेज लाहौर का अनुसंधान विभाग तथा उसके संचालक पं० भगवद्दत्त ने इस क्षेत्र में प्रथम दिशा निर्देश किया । तत्पश्चात् विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान, विरजानन्द वैदिक संथान, रामलाल कपूर ट्रस्ट आदि संस्थाओं के

माध्यम से भी संस्कृत के शोध कार्य को नवीन दिशा मिली। इधर पंजाब तथा कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालयों में दयानन्द शोध पीठों की स्थापना के द्वारा वैज्ञानिक अनुसंधाम के नवीन क्षेत्र खुले हैं । कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय की दयानन्द शोध पीठ के भूतपूर्व अध्यक्ष डा० श्रीनिवास शास्त्री तथा पंजाब विश्वविद्यालय के दयानन्द अनुसंधान विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रो० रामनाथ वेदालंकार ने स्वामी दयानन्द के वेदविषयक विचार पर मौलिक ग्रन्थों का निर्माण किया है। इन पंक्तियों के लेखक ने दयानन्द साहित्य की सम्पूर्ण सूची प्रस्तुत करने के अतिरिक्त स्वामी दयानन्द कृत चतुर्वेद विषय सूची तथा स्वामी दयानन्द प्रणीत ऋग्वेद के कुछ प्रारम्भिक मंत्रों के विशद भाष्य का सम्पादन किया है। व्यक्तिगत रूप से शोध करने वालों में पं० युधिष्ठिर मीमांसक, स्वामी ब्रह्ममुनि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रो० बी० राघवन ने साम्प्रतिक काल के संस्कृत साहित्य का अनुशीलन करते हुए ठीक ही लिखा था कि नये आन्दोलनों में आर्य समाज का संस्कृत साहित्य के पुनरूत्थान से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
दयानन्दशोध पीठ,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ

सूचना—

किन्ही कारणों से गुरुपत्रिका का प्रकाशन जौलाई ८७ से मार्च ८८ तक बन्द रहा है। इसका हमें खेद है। सदस्यों का शुल्क उससे आगे के अंको के सुरक्षित रहेगा।

—सम्पादक

प्राचीन भारत में शिक्षा का आदर्श

डॉ० कृष्णा गुप्ता

शिक्षा का उद्गम ऐवं विकास ही किसी राष्ट्र की संस्कृति एवं इतिहास का प्रमुख साधन है। यह एक ऐसा प्रदीप है जिसके आधार पर अतीत के तथ्यों को प्रकाशित किया जा सकता है। इस दृष्टि से प्रत्येक मनीषी एवं विचारक को उसके देश की शिक्षा का ज्ञान होना परम आवश्यक है क्योंकि प्रत्येक देश का इतिहास उसकी शिक्षा संस्थाओं में प्रतिबिम्बित होता है। इस तथ्य का निरूपण भारतीय शिक्षा में पूर्णरूपेण हुआ है। यहाँ के आदर्श एवं गौरव मयी राष्ट्रीय संस्कृति का वास्तविक दर्शन यहाँ की शिक्षा में होता है।

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही ज्ञान एवं विज्ञान का प्रेमी रहा है। ',ब्रह्मणोऽस्य मुखमासीत्'' के अनुसार इस देश में प्रमुख 'ब्राह्मण अर्थात् दार्शनिक और वैज्ञानिक ही रहे हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-इन चारों पुरुषार्थों के सम्बन्ध में यहाँ के विद्वानों ने इतनी गवेषणा की है और इतने श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना की है, जिससे सारा संसार उनके सामने नतमस्तक है। अतीत इस बात का साक्षी है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति ने अपने आध्यात्मिक स्वरूप को अचल रखते हुये देश को गौरवान्वित किया है। यहाँ के आदर्श और गौरवमयी संस्कृति की आत्मा का दर्शन यहाँ की शिक्षा में होता है। हमारे पूर्वजों की शिक्षा रही है—''ज्ञान जहाँ से मिले वहाँ से प्राप्त करों और युक्तियुक, न्याययुक्त और ज्ञानवर्धक शिक्षा को ग्रहण करो।''

अथर्ववेद के अनुसार शिक्षा एवं ज्ञान से चक्षु, प्राण और प्रजा पाने की विशेषता है—

यो वै तां ब्राह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।

तस्मै ब्रह्म च ब्राह्मश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥

(१०।१।२९)

उपनिषदों में तो ब्रह्मज्ञान का सर्वाधिक महत्व रहा। ब्रह्मज्ञान के द्वारा स्वयं ब्रह्म बनना, अपने कुल की, ब्रह्मज्ञता की प्रतिष्ठा करना, शोक को पार करना, पाप रहित होना, अमरता तथा गुहा-ग्रन्थि से मुक्ति पाना सम्भव माना गया है (मु० उ० ३।२।९) । अध्ययन और ब्रह्मचर्य को धर्म का प्रमुख अंग माना है है (छा० १।२३।१) ।

मनु ने ब्राह्मण समाज की प्रतिष्ठा का आधार ज्ञान को ही बतलाया है। उनके अनुसार वही ब्राह्मण ज्येष्ठ है जो सबसे अधिक ज्ञानी है। अशिक्षित ब्राह्मण काठ के हाथी के सदृश अपने नाम को सार्थक नहीं करता है (मनु० २।१३५-६) ।

पुराणों में वेदों का ज्ञान एवं अध्ययन महत्वपूर्ण माना गया। इनका अध्ययन उतना ही महत्वपूर्ण माना गया है जितना वस्त्रों को धारण करना। वेद मानवता के लिये परिधान सदृश है—

ज्ञानमेव वरं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेष्टते ।
ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद्विद्यते परम ।।
(वि०पु० २।६।४९)

इन प्रकार प्राचीन भारत में ज्ञान को मनुष्य का जीवन प्रदान करने वाला माना गया है और इसी के द्वारा ब्रह्मत्व प्राप्त होता है। प्राचीन भारत में शिक्षा में आदर्श से तात्पर्य जीवन के नैगिक धरातल से एक सांस्कृतिक धरातल को प्राप्त करना रहा है। इस साँस्कृतिक धरातल की भूमि के निमित्त अनेक शैक्षणिक संस्कारों का जन्म हुआ। यथा विद्यारम्भ उपनयन वेदारम्भ आदि। इन सभी शैक्षणिक संस्कारों का उद्देश्य, शिक्षा के उद्देश्य और आदर्शों को प्राप्त करना था। गुरुकुल में बालक अपनी शिक्षा प्रारम्भ करता था और शिक्षा समाप्त होने तक गुरु के समीप ही रहता था। इसके दो उद्देश्य थे—ज्ञान प्राप्त करना एवं सच्चरित्रता की भावना को जागृत करना। इस पद्धति का आयोजन इस प्रकार का था कि जीवन के प्रति छात्र का दृष्टिकोण व्यापक हो जाये उसमें ज्ञान की ज्योति जागे, उसकी बुद्धि प्रवर हो और उसके व्यक्तित्व के निकास द्वारा उसमें चरित्र बल की स्थापना हो। उसमें संस्कृति तथा ज्ञान के प्रति श्रद्धा की भावना और परिवार, समाज, पूर्वजों तथा सांस्कृतिक परम्पराओं के प्रति अपने दायित्वों को सफलता-पूर्वक करने की इच्छा उत्पन्न होती



आचार्य रामप्रसाद वेदालंकार प्रोवाइसचान्सलर विश्वविद्यालय,
उद्बोधन देते हुये ।

थी। इस पद्धति में धर्म-दीक्षा को प्रमुख स्थान प्राप्त था परन्तु ज्ञान और साहित्य की अनन्त शाखाओं के महत्व को भी भुलाया नहीं जाता था। विद्यार्थी एक प्रकार की नियमित दिनचर्या व्यतीत करता था, जिससे उसका आचरण अनुशासन एवं शीलयुक्त होता था। अतः एक विशेष प्रकार के साये में ढाला हुआ विद्यार्थी ही वास्तविक विद्या का अधिकारी होता था। उसका व्यक्तित्व पूर्व रूप से निखर जाता था।

गुरु से आशा की जाती थी कि उसमें सर्वोच्च नैतिकता तथा आध्यात्मिक योग्यतायें हो। उसमें आवश्यक रूप से समष्टि के बोध पर आधारित ऐसा दृढ़ विश्वास होना चाहिये जिसके द्वारा वह अपने शिष्यों में ज्ञान की ज्योति जागृत करें और उससे आशा की जाती थी कि वह सत्य को बिना कोई चीज को न छुपाये बिलकुल उसी ढंग से प्रस्तुत करें जैसे कि वह उसे देखता है। उन दिनों प्रायः प्रत्येक आचार्य की यही कामना रहती थी कि उसका शिष्य विद्वान बन कर सुयश प्राप्त करें और आचार्य बनकर शिष्यों को पढ़ायें। इससे शिष्य परम्परा से ज्ञान अमर रहेगा। विद्यार्थी को अपनाने से पूर्व आचार्य उसके शील और चरित्र की परीक्षा लेते थे। पिप्पलाद ने कौसल्य को प्राण विद्या की शिक्षा के योग्य इसी कारण माना था कि वह ब्रह्मनिष्ठ था। कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् (१।१) के अनुसार मान (अभिमान) का न होना विद्या प्राप्त करने के लिये सर्वोच्च गुण था।

गुरु वशिष्ठ ने रामचन्द्र को ज्ञान एवं विज्ञान के सम्बन्ध में नीति दर्शाते हुये कहा है कि न्याय के भक्त (सत्य के पुजारी) को शास्त्र की युक्तियुक्त बात को ही स्वीकार करना चाहिये। ज्ञान की वृद्धि करने वाले शास्त्र का ही अध्ययन करना चाहिये, चाहे वह किसी साधारण मनुष्य का ही बनाया हुआ हो और जो शास्त्र इसके विरुद्ध लक्षणों वाला हो (अर्थात् युक्ति रहित और अज्ञान वर्धक हो) उसको तृण के समान फेक दे, चाहे वह किसी ऋषि का ही बनाया हुआ क्यों न हो—

युक्तियुक्तमुपादेय वचनं बालकादपि ।
अन्यन्तृण मिव त्याज्य मप्युक्तं पद्मजन्मना ।।
योऽस्मात्तातस्य कूपोऽयं मिति कौयं पिवत्यपः ।
त्यक्त्वा गाङ्गं पुरू स्थंतं कोनाशास्त्यतिरागिणम् ।।
अपि पौरूषमादेयं शास्त्रं चेद्युक्ति बोधकम् ।
अन्यत्वार्षमपि त्याज्यं भाव्यं न्याय्यैक सेविना ।।
(योग वसिष्ठ २।१८।३, ४, २)

प्राचीनकाल में शिक्षा का क्षेत्र विस्तृत एवं बहुमुखी था । यह सभी प्रकार की लौकिक सम्पदा एवं पारलौकिक आनन्द का आधार थी । विद्यार्थी अपनी वैयक्तिक चेतनाओं को जागरित तथा अपने व्यक्तित्व का विकास करके आध्यात्मिक अभ्युदय के लिये प्रवृत्त होता था । ऐसे विद्यार्थी के लिये आधिभौतिक ऐश्वर्य की मनोहारिता बहुत अधिक स्मरणीय नहीं होती थी । दिग्वजयी राजा भी उसकी चरण रज पाकर अपने को धन्य मानता था ।

इस प्रकार प्राचीनकाल में शिक्षा के आदर्श मूल रूप में व्यवहारिक एवं ठोस सिद्धान्तों पर आधारित थे । इस समय विद्याध्ययन केवल गौणरूप से धन कमाने के लिये था । सुसंस्कृत छात्र ही सच्चे अर्थों में विद्यार्थी बनते थे एवं समाज के लिये उपयोगी नागरिक होते थे । उनका जीवन विनय, शील एवं संयम आदि गुणों से परिपूर्ण होता था । उनका चित्र स्वाध्याय में एकाग्र रहता था । इससे इन्द्रियों में संयम होता था । उसकी प्रज्ञा बढ जाती थी । उसे लौकिक यश की प्राप्ति होती थी और बह लोक को अभ्युदय की ओर लगा देता था । ज्ञान के द्वारा वह अमरत्व को प्राप्त करता था और कर्म के द्वारा भौतिक समृद्धि को । उपासक के द्वारा कामना की गयी है कि परमात्मा उसे असत् से सत्. तम से ज्योति एवं मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चले—

असतो मा सद्गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्मा अमृतं गमय ।

संक्षेप में प्राचीन शिक्षण पद्धति ने आचरण के कुछ निश्चित मानदण्ड तथा विचारधारायें निर्धारित की, इसने विद्यार्थियों के व्यक्तित्व को निखारने और उनमें सच्चरित्रता की भावना जागृत करने का प्रयास किया । इसने सत्य, ईमानदारी तथा धर्मनिष्ठता की भावना उत्पन्न की यह धर्म तथा पवित्र आचरण, दर्शन तथा संस्कृति की संरक्षक थी । देश के जनसाधारण में और विदेशों के विद्वानों में संस्कृति का प्रसार करने का श्रेय इसी को है । इसकी कुछ विशिष्टिताओं का जैसे शिक्षक और छात्र के बीच वैयक्तिक सम्बन्ध और नैतिकता पर बल आदि का हम आज भी बदली हुई परिस्थितियों में भी सफलता पूर्वक अनुसरण करके लाभ उठा सकते हैं । इसका सबसे महान योगदान उन साँस्कृतिक मानदण्डों में निहित है जिन्हें उसने जन्म दिया तथा प्रसारित किया । वे मानदण्ड जो आज भी बदली हुई स्थिति में भी सार्थक हैं ।

भारत-भूमि पर सहस्रों वर्ष पूर्व विचरते हुये हमारे गुरुजनों ने पूर्वोक्त आदर्शों से भी ऊँचा एक और आदर्श 'सर्वजन हिताय' का रखा था, जिसको आज भी हम अपना आदर्श बना कर अग्रसर हो सकते हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे भवन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःख भाग्भवेत् ॥
सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि सर्वत्र नन्दतु ॥
सर्वः सद्बुद्धिमाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥
दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात् ।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत् ॥

हमारी संस्कृति के ये मानदण्ड, जिनकी रचना और विकास में प्राचीन भारत की शिक्षण पद्धति ने प्रमुख और महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है हमारे अतीत की महान् धरोहर है ।

ज्ञान की उपर्युक्त प्रतिष्ठा को शाश्वत मूल्य प्रदान करने की आवश्यकता बताते हुये विवेकानन्द ने कहा है—

"Unselfish and qenuiue zeal for scholarship and honest earnest thought must again become dominant in the life as our countrymen, if they are even to rise to occupy among nations a rank worthy as their own historic past"

(Complete work vol IV P. 220)

डॉ० कृष्णा गुप्ता
नगरिया सदन
खूबी की बजरिया
ग्वालियर (म० प्र०)
४७४००६

राष्ट्रीय एकता और ऋषि दयानन्द

स्वामी वेदमुनि परिव्राजक
अध्यक्ष—वैदिक संस्थान,
नजीबाबाद (उ० प्र०)

बात सन् १९६१ के जनवरी मास की है जबकि मुझे अधिकतर महर्षि दयानन्द की शिक्षा स्थली मथुरा नगरी के विरजानन्द वैदिक साधना आश्रम में रहने का सुयोग प्राप्त हुआ। आश्रम से एक मील की दूरी पर मथुरा-वृन्दावन मार्ग पर भारत के सुप्रसिद्ध उद्योगपति बिरला परिवार द्वारा निर्मित "आर्य (हिन्दू) धर्म सेवा संघ" के संरक्षण में एक विशाल गीता मन्दिर है। सायंकाल भ्रमणार्थ जब जाना होता तो इसी मन्दिर में लगभग एक घण्टा बिताया करता। इस मन्दिर का जो मुख्य भाग है और जिसमें योगीराज श्री कृष्णचन्द्र की मूर्ति की स्थापना की गई है, उसके पीछे की ओर पांच महापुरुषों के चित्र बने है, जिनमें एक चित्र महर्षि दयानन्द का भी है। चित्र पर लिखा है "जागृति और एकता" जिसका तात्पर्य यह है कि आपने जागृति और एकता के लिये कार्य किया।

चित्र के साथ एकता शब्द को पढ़ते ही ऋषि के एकता के लिये किये गये कार्य मस्तिष्क में क्रमशः एक के बाद एक आने लगे और एक बार महर्षि के प्रमुख ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास का वह प्रकरण नेत्रों के सम्मुख आकर स्थिर हो गया, जिसमें राष्ट्रीय गठन के लिये ग्राम सभाओं से लेकर महाराजा सभी तक का वर्णन किया गया है। प्रकरण क्या है ? किसी राष्ट्र की एकता को सुदृढ़ तथा चिरस्थाई बनाने का वास्तविक सूत्र है।

महर्षि लिखते हैं कि एक-एक ग्राम में एक-एक प्रधान पुरुष को रखे, उन्हीं

दस ग्रामों के ऊपर दूसरा, उन्हीं बीस ग्रामों के ऊपर तीसरा, उन्हीं सौ ग्रामों के ऊपर चौथा और उन्हीं सहस्त्र ग्रामों के ऊपर पांचवा पुरुष रखे।''

इस प्रकार के संगठनों को जिनके अध्यक्ष यह प्रधान पुरुष होंगे, महर्षि ने राज सभा'' की संज्ञा प्रदान की है। अर्थात् यह ग्राम सभा वह हुयी, जो ग्राम पर राज्य करें, ग्राम का शासन चलाये। किन्तु इन ग्राम सभाओं की सत्ता को सर्वतंन्त्र स्वतन्त्र नहीं रखा अपितु दस ग्रामों के ऊपर भी एक प्रधान पुरुष का विधान किया, जो उन दशों ग्रामों के प्रतिनिधियों की बनी ''राज-सभा'' का अध्यक्ष होगा। उससे आगे इसी प्रकार बीस ग्रामों की, सौ ग्रामों की तथा सहस्त्र, दश सहस्त्र. लक्ष ग्रामों आदि की राज-सभाओं का वर्णन किया है तथा सब से अन्त में वर्णन किया है महाराज सभा का।

राष्ट्र की छोटी से छोटी इकाई अर्थात् प्रत्येक ग्राम से लेकर ऊपर तक सबको एक सूत्र में बांधने का इतना सुन्दर विधान है कि जिसमें प्रत्येक ग्राम को अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार स्व-शासन चलाते हुए भी ऊपर के संगठनों के अन्तर्गत रहने से राष्ट्रीय हित में किसी भी प्रकार बाधा पहुंचने की संभावना नहीं रहती।

इन सारी राज सभाओं की जो शिरोमणि अर्थात् सब से ऊपर की सभा होगी, वह वही होगी, जिसे हम वर्तमान में 'लोक सभा'' कहते है और उसका प्रधान पुरुष होगा 'लोक सभाध्यक्ष'' लोक-सभा और ''लोक सभाध्यक्ष'' तक ही महर्षि ने विचार किया हो सो बात भी नहीं। वह तो आगे तक गये और इससे आगे उन्होंने जैसा कि हम ऊपर वर्णन कर आये हैं, ''महाराज सभा'' का भी निर्देश किया है, जिसे आज कल की परिभाषा में राज्य-सभा''—कहा जाता है और जिसका कार्य लोकसभा द्वारा पारित विधेयकों पर विचार करना होता है। इस 'महाराज सभा'' में विचार के पश्चात् ही विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये जाते हैं। इस सभा का अध्यक्ष उप राष्ट्रपति होता है।

अन्तिम राजसभा अर्थात् लोक सभा तथा महाराज सभा तो वर्तमान काल में भी है, जैसा कि महर्षि मनु महर्षि दयानन्द ने विचार प्रस्तुत किये हैं किन्तु इनसे नीचे की स्थिति सर्वथा विपरीत है। और आजकल राष्ट्र की सार्वभौम सत्ता के पश्चात् जो

ईकाईयां है, उन्हें राज्य नाम दिया गया है, जिसका परिणाम हमारे सामने राज्य स्तर पर होने वाले झगडों के रूप में आने लगा है। और वह झगड़े है अधिकतर सीमा सम्बन्धी, बिहार और बगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश तथा मैसूर और महाराष्ट्र आदि के। पंजाब को पंजाबी भाषी प्रदेश कह कर खालिस्तान अथवा सिक्खिस्तान बनाने के लिये तथा बंगाल में गोरखालैण्ड बनाने के आन्दोलन भी इसी के परिणाम-स्वरूप प्रारम्भ हुए है। कारण पर यदि गम्भीरता पूर्वक निष्पक्ष रूपेण विचार करें तो इसी परिणाम पर पहुंचेगे कि वह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण दिन था, जब भारत के प्रान्तों को राज्य तथा भारत को भारतीय संघ नाम दिया गया।

उपरोक्त नामकरण यह स्पष्ट करने को पर्याप्त है कि भारत एक राष्ट्र नहीं अपितु अनेक राज्यों का मिलकर बनाया हुआ संगठन है जिसे "संयुक्त-राज्य" भी कहा जा सकता है। दुर्भाग्य से जिन लोगों के हाथों में राष्ट्र की बाग–डोर है, उन्होंने इस विषय में अमेरिका का अन्धानुकरण किया है। अन्धानुकरण हम इसलिये कहते हैं कि यदि थोड़ा भी बुद्धि का उपयोग किया जाता तो बात बड़ी स्पष्ट है, कि अमेरिका कोई स्वतन्त्र राष्ट्र नहीं अपितु अनेक राष्ट्रों का समूह है इसलिये उसका नाम "अमेरिका यूनियन" ठीक ही है। भारत की स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। भारत अनेक राष्ट्रों का समूह नहीं अपितु एक राष्ट्र है। उत्तर प्रदेश, बिहार आदि उसके प्रबन्ध और व्यवस्था की दृष्टि से बनाये गये प्रांत है. राज्य नहीं। जब राज्य नाम दिये अधिक समय नहीं व्यतीत हुआ था तभी सीमा सम्बन्धी झगड़े आरम्भ हो गये थे। जिन-जिन प्रांतो में यह झगड़े हो रहे है उनमें से प्रत्येक प्रांत की जनता दूसरे प्रान्त को विदेश तथा वहाँ के निवासियों को विदेशी समझने लगी है। अधिक समय बीतने पर जो परिणाम हो सकते हैं उपर्युक्त झगड़ों को दृष्टिगत रखते हुए उनका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। यह असम्भव नहीं कि कुछ समय पश्चात् यह प्रश्न उग्र हो उठे कि प्रत्येक राज्य की स्वतन्त्र सत्ता हैं, परिस्थितियों वश उस समय एक संघ के रूप में एकत्र हुए थे किन्तु अब पृथक् होना चाहते है। पहले तो सीमायी झगड़े थे और अब विघटन की प्रवृत्ति प्रबल हो चुकी है; जिसका प्रमाण खालिस्तान की मांग उसके लिये विद्रोह है।

इन प्रान्तीयता के नाम पर होने वाले झगड़ों तथा उनसे होने वाली भयंकर हानियों से बचने व भावी विघ न की विनाशकारी प्रवृत्ति को रोकने का एक मात्र उपाय है स्वामी दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट पथ का अनुसरण और वह यह कि समस्त प्रांतों को जिन्हें राज्य का नाम दे रखा है समाप्त कर दिया जाये। इससे प्रथम लाभ तो यह होगा, कि प्रत्येक प्रांतीय सरकार पर होने वाला व्यय बच सकेगा, तथा

दूसरा यह कि प्राँतीयता की भावना मिटकर केवल मात्र एक भावना राष्ट्रीयता की रह जायेगी।

इस समय कोई बिहारी है तो कोई बंगाली, कोई पंजाबी है तो कोई मद्रासी और कोई महाराष्ट्रीय है तो कोई गुजराती। भारतीय कोई दृष्टिगोचर नहीं होता। इन प्रांतों के समाप्त होने पर न कोई बिहारी होगा न बंगाली, न पंजाबी होगा न मद्रासी, न महाराष्ट्रीय होगा न गुजराती अपितु सब केवल भारतीय होंगे। वहीं संघीयता का वास्तविक रूप होगा. संघ नाम देने से नहीं। नाम के मूल में तो विघटन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने वाला मन्त्र निहित है।

आवश्यकता इस बात की है कि भारत का पुनर्गठन किया जाये। जिलों और उनसे निचले स्तर के गठन को तो छुआ न जाये अर्थात् उन्हें तो ज्यों का त्यों रखा जाये। जिलों से ऊपर प्रति दश जिलों को मिलाकर एक क्षेत्र या कमिश्नरी बनायी जाये, जिसका अधिकारी क्षेत्राधिकारी या कमिश्नर रहे। सारे भारत को पांच भागों में व्यवस्था की दृष्टि से विभक्त किया जाता और इन भागों के नाम भाषा तथा जातीयता नहीं अपितु दिशाओं के नाम पर उत्तरी भारत, दक्षिणी भारत, पूर्वी भारत, पश्चिमी भारत तथा मध्य भारत रखे जायें। इनमें से प्रत्येक भाग का अधिकारी प्रधान क्षेत्राधिकारी अथवा चीफ कमिश्नर हो। इन सभी चीफ कमिश्नरों का सीधा सम्बन्ध राष्ट्रीय सरकार से हो। इस प्रकार सारा राष्ट्र व्यवस्थित रूपेण एक सूत्र में, एक ही राष्ट्रीय सरकार द्वारा शासित होगा।

दूसरा सूत्र राष्ट्रीय एकता के लिये ऋषि दयानन्द से जो हमें प्राप्त हुआ है, वह भाषायी। भारत मां के उस सच्चे सपूत ने एक शताब्दी पूर्व ही यह जान लिया था कि किसी राष्ट्र की एकता को सुदृढ़ करने के लिये भाषायी एकता परमावश्यक है। यही कारण है कि जन्म से गुजराती तथा संस्कृत के महान् पंडित होते हुये भी उन्होंने अपने भाषणों का माध्यम हिन्दी भाषा को बनाया तथा अपने समस्त ग्रन्थ भी वेदाङ्ग प्रकाश (संस्कृत व्याकरण) को छोड़कर देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी भाषा में लिखे। यदि वह चाहते तो भाषण के माध्यम स्वरूप संस्कृत का प्रयोग कर सकते थे तथा लेखन के लिये संस्कृत वा गुजराती भाषा का। परन्तु महर्षि यह भलीभांति जानते थे कि एक तो हिन्दी भारत में सर्वाधिक लोगों द्वारा बोली तथा लिखी जाती हैं। दूसरे हिन्दी की लिपि तथा वर्णमाला पूर्ण तथा वैज्ञानिक है।

यद्यपि भारत के संविधान में भारत की चौदह भाषायें स्वीकृत है तथापि भारत का हित इसी में है कि संविधान द्वारा स्वीकृत इन सभी भाषाओं की एक मात्र

लिपि देवनागरी हो। इसमें भाषायी उन्माद का मलोच्छेदन होगा भारत के प्रत्येक क्षेत्र की जनता एक दूसरे को समझेगी तथा पारस्पारिक निकटता की स्थापना हो सकेगी।

आर्य समाज का जो सदैव से राष्ट्र-हित के कार्यों में अग्रणी रहा है यह अनिवार्य कर्तव्य हो जाता है, कि वह एकद्विषयक प्रचार में पूरी शक्ति के साथ जुट जाये, जिससे जनमत जागृत हो। एक समय था जब विदेशी साम्राज्य भारत पर छाया था, तब आर्य समाज ने निःस्वार्थ भाव से राष्ट्रीय जागरण के कार्यों में बढ़-चढ़कर भाग लिया। यदि यह कह दिया जाये तो अतिश्योक्ति न होगी कि आर्य समाज की सारी शक्ति स्वाधीनता के मन्त्र का प्रचार करने में लगी हुयी थी। यह एक ऐसा सत्य है कि जिसे भारतीय नेताओं ने ही नहीं अपितु भारत से बाहर के विदेशी विद्वानों तथा स्वयं ब्रिटिश साम्राज्य ने भी स्वीकार किया।

अच्छा हो कि स्वामी दयानन्द के इन दोनों सूत्रों के प्रचार में आर्यजन दृढ़ता पूर्वक जुट जायें तथा ऋषिवर दयानन्द के बोध दिवस शिवरात्रि के महान् पर्व को अपने लिये जैसा कि इसे नाम दिया गया है "बोध रात्रि" ही समझे। और उस दिन को, जब तक उपर्युक्त कार्यक्रम पूर्ण न हो जाये संकल्प दिवस के रुप में मनाया करें।

शिक्षा और दर्शन

जैसा कि प्रसिद्ध है कि हर मनुष्य का अपना जीवन सम्बन्धी मार्ग दर्शन होता है या हर परसन की अपनी फिलासफी आफ लाइफ होती है ऐसे ही हर बड़े की अपने से छोटे अपने साथ रहने वाले के लिए एक शिक्षा प्रणाली बनी रहती है और एक साधारण व्यक्ति की फ़िलासफ़ी आफ़ लाइफ़ और उसके एजूकेशन सिस्टम में बड़ा प्राकृतिक और नैचूरल जोड़ होता है जोकि कभी-कभी बड़ी-बड़ी राशियां खर्च करके बनायी गई प्रणालियों में नहीं मिलता । वैसे भी हरेक व्यक्ति किसी न किसी से कुछ न कुछ तो अवश्य ही सीखता है और ऐसे ही किसी दूसरे को सिखाता भी है। इस काम के लिए स्कूल की आवश्यकता नहीं। बल्कि "साथ अनिवार्य है" ।

दर्शन किसे कहते हैं यह तो लगभग यहां उपस्थित सभी सज्जन जानते हैं और यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि तार्किक दृष्टि से शुद्ध परिभाषा दर्शन की आज तक न कोई कर सका और न आगे भविष्य में आशा है । हाँ, कम्प्यूटर की सहायता से शायद कुछ बात बन सके परन्तु हम उसका प्रयोग नहीं जानते तो इसलिए ये मेरे लेख से बाहर की बात है । फिर भी इतना इस परिषद् की इस सभा और इस विश्व-विद्यालय और इस नगर में कहना उचिता समझता हूं कि कम्प्यूटर के प्रयोग से जो परिणाम हमको मिलेंगे, उनको सहायता से हम बहुत कुछ पा सकते हैं और काम बना सकते हैं।

शिक्षा किसे कहते हैं ? इसकी भी बहुत सी परिभाषाएं की जा चुकी हैं और पिछली शताब्दी में तो इस ओर बहुत ही अधिक ध्यान दिया गया हैं । रूस, अमरीका ही नहीं बल्कि और देशों में भी काम होता रहा है। मैं कामटे का शिशु तो नहीं परन्तु उसकी 'Single Design' को बात मुझे बहुत अच्छी लगती है और अच्छी है

भी। साधारण वाक्यों, बातों अथवा विचारों को लेकर अगर हम चलें तो दार्शनिकता की प्राप्ति में हम कुछ अधिक ही लाभ उठा सकते हैं। यूं भी शिक्षा हर परिवार में दी जाती है। विद्यालयों, पाठशालाओं मक्तवों या मदरसों आदि में तो होती ही है। परन्तु जंगलों में, फुटपाथों पर, नदी के किनारों पर, आदिवासी जिन्हें कहते हैं, उनके झोंपड़ों में, खानाबदोशों की गाड़ियों में सभी में शिक्षा दी जाती है। प्रश्न यह है कि शिक्षा क्या है और दर्शन क्या है? और जब तब इन दो प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता तीसरे प्रश्न का उत्तर मिलना बहुत कठिन है। जो कि संयोजक "और" के साथ यहां पूछा गया है अर्थात् दर्शन और शिक्षा शीर्षक बनाकर तो दर्शन से सम्बन्धित प्रश्न के उत्तर के लिये तो हम यहाँ काम चलाने के लिये परम्परागत दृष्टि से यही एक अर्थ ले लेते हैं कि दर्शन वो तो है ही कि जिसमें हम को इस आँख से देखी दुनियाँ और फिर न देखी जा सकने वाली बल्कि किसी भी तरह मान ली गई वास्तविकताओं के सम्बन्ध में विवेचन और वर्णन मिलता हो और ऐसा विवेचन अपनी ओर से देने वाला विद्वान् दार्शनिक होता है। **दार्शनिक और दर्शनशास्त्री एक नहीं। हर दर्शनशास्त्री का दार्शनिक होना भी आवश्यक नहीं।** शिक्षा से भी इसी तरह हम यह अर्थ लेते है कि सिखाने वाले और या सीखने और सिखाने वाले दोनों की इच्छा से जब सीखा जाये तो यह कार्य शिक्षा कहलायेगा। सिखाने के नियम, विधि तथा सिद्धान्त आदि सभी शिक्षा शास्त्र में आ जाते है। तो अब बात कुछ आसान हो जाती है और काम भी चल सकेगा। मगर बात इतनी आसान भी नहीं।

पहले तो मनुष्य को ही जानना पहचानना ही आवश्यक है। जन्नत से आया या बन्दरों में से उभर कर निकला। मैं इसको ऐसे लेता हूं कि मनुष्य जहां कहीं भी था तो वो मनुष्य था। पहला मनुष्य कब और कहाँ था परन्तु जहां था वो था अवश्य भले ही वो आसमान से आया हो या बन्दर से बनते-बनते हम जैसा बन चुका हो। हम तो सीधे ही कह दें कि हर मनुष्य अर्थात् हम जैसे प्राणी की अपनी दुनिया होती है। वह कितना भी दूसरों के साथ तालमेल बनाकर जिये या कुछ अलग-थलग सा रहता हो। वह स्वयं तो सीखता ही है परन्तु साथ-साथ उसको दूसरे भी सिखाते हैं— मां-बाप या नर्स या किसी आश्रम या अनाथालय के कार्यकर्ता या फिर सड़क चलते साथ मिलते व्यक्ति और वो उमर भर सीखता है। या सीखने का अवसर मिले तो

सीख सकता है । और फिर अपने से छोटे या अपने से कम ज्ञानी को सिखाता भी है और यह भी संभव है कि वो इस बात को ऐसे न समझता हो जैसे कि इस सभा में हम बातचीत समझ कर कर रहे हैं । बल्कि अधिकतर लोग ऐसा कुछ नहीं समझते हैं ।

अब इस शीर्षक में हमारा सम्बन्ध है भी हमारे आपके जैसे व्यक्तियों का जाना समझा और माना दर्शन और हम जैसे व्यक्यियों की सूझबूझ से निकली शिक्षा की कल्पना, शिक्षा विचार, शिक्षा प्रणाली या फिर हमें जो दूसरों ने दिया । तो अब मेरे लेख में मेरी विचारधारा के दो प्रकार हो जाते हैं । एक तो बिल्कुल आपेक्ष विचार और दूसरा अपने प्यारे भारतदेश को लेकर और यहां वैज्ञानिक दृष्टि और सामाजिक दृष्टि को अधिक मन में रखना है । पहले भाग में अरस्तू, अफलातून, देकारटस, काट आदि और फिर इबनैरुस्द, अलग्ज़ाली खल्दून वगैरा और इधर अपने देश से शंकर रामानुज, पातंजलि और इससे बहुत पहले रामचन्द्र जी की शिक्षा के सम्बन्ध में जो कुछ भी और जैसे भी हम को मिला परम्पराओं के रूप में चला भी आ रहा है तो इस सबसे और फिर इधर स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, मोरार जी देसाई, मसानी आदि और फिर उधर जेम्स, डैवी, काम्टे, दुरखायेम या फिर और ऊपर ठण्ड में लेलिन या उनका दिल पसंद/जर्मन विद्वान् मार्क्स, इन सब के नाम लेते हुये और आप सबसे इतनी प्रार्थना करते हुए कि इनमें से हरेक के सम्बन्धित विचारों को आप अपने मन में लाईये । मैं यहाँ इस लेख में उनका वर्णन और उनकी तुलना नहीं कर सकता । जगह कम है ।

दूसरे भाग में आज कल सबसे पहले मैं राजीव गांधी जी का नाम लूंगा और लेना चाहिए भी कि उन्होंने और वो ऐसे पहले प्रधान मन्त्री हैं कि हमारी शिक्षा प्रणाली की ओर पूर्ण ध्यान दिया । वो जो कह सकते थे या करा सकने का प्रयास कर सकते थे वो तो प्रशंसनीय हो सकता है । परन्तु इस सम्बन्ध में दु.ख यह है कि वो स्वयं किसी विश्वविद्यालय से ऊंची शिक्षा नहीं लिये हुये हैं । यह हो सकता है कि समय के साथ वो दार्शनिक भी हो जायें और अपना कोई मार्गदर्शन देकर ऊपर दिये गये नामों की श्रेणी में आ सकें वैसे देखने में खद्दर-चद्दर में वो अच्छे महात्मा

लग भी जाते हैं। तो उनके प्रयास से एक नयी शिक्षा प्रणाली सामने आ तो गयी उस पर टिप्पणी तो इस लेख के क्षेत्र से बाहर हो जाती है परन्तु इस शिक्षा प्रणाली का आधार कौन-सा दर्शन है ? यह प्रश्न में आप सब विद्वानों के सामने रखता हूं। अगर आप उचित समझें तो इसका उत्तर देकर मुझे भी मार्गदर्शन दें।

पहले भाग में तो हम यह दो-चार बातें कहनी, समझनी आवश्यक पाते हैं कि शिक्षा में लिखना पढ़ाना तो आ ही जाता है परन्तु क्या लिखा जाये और क्या पढ़ा जाये महत्वपूर्ण प्रश्न तो यह है। यहीं से दर्शन और शिक्षा का सम्बन्ध निकलता है तो ऐसा सोचना ही दर्शन है। और इस प्रकार सोचने में शिक्षा की कल्पना और जिस दर्शन पर वो आधारित है वो सामने आ जाती हैं। हमारे सामने अनेक दर्शन-शास्त्र हैं। बहुत-बहुत प्राचीन कालों से चले आ रहे हैं और अभी आधुनिक काल में बनाये गये तो कौन सा दर्शन या कौन सी फ़िलासफ़ी हम अपनी शिक्षा का आधार बनायें। यह बात फिर इस लेख की सीमाओं से बाहर आ पड़ती है। क्या फ़िलासफ़ी शब्द का अर्थ दर्शन लिया जाये या वो ही कि जो पश्चिमी देशों वाले लेते रहे हैं। और अगर इसका अर्थ दर्शन या उस अर्थ में लिया जाये कि जिसमें भारतीय दर्शन शास्त्र के विद्यालय लेते रहे और जिसमें इसका प्रयोग हमारे भारत में प्राचीन कालों से होता चला आ रहा है तो इस अर्थ में यह दर्शन साधन भी है और कहीं-कहीं यह लक्ष्य और प्रयोजन। भी मगर जब यह वास्तविकता के दर्शन के अर्थ में लिया जाये तो फिर सारी शिक्षा साधन बनकर रह जाती है। मगर यह सब को प्राप्त नहीं हो सकती। जिनको प्राप्त हुआ माना जाता है वो फिर स्वयं उनकी अपनी बात बनकर रह जाती है। जिसे वे अपने साथ लेकर इस संसार से चले जाते हैं। भले ही समय की चट्टानों में कुछ गहरे पदचिह्न छोड़ जाते हैं। और उन पर खोज होती रहती है। अगर ये स्पष्ट रूप से बता जाते कि दर्शन जो उनको हुआ तो सब बात खुल जाती। पर ऐसा नहीं मिलता।

दूसरे भाग में बोलते हुये अब मैं यही कहूंगा कि मुझे तो आजकल ऐसा लगता है कि हम उस ऊंट के समान हैं कि जिसकी नाक से नकेल निकल चुकी है। कभी तो नकेल की आदत के अनुसार चलने लगते हैं और नहीं तो बेनकेल के ऊंट के समान, बेतुक,।

फिर दर्शन शास्त्र हो, शिक्षा शास्त्र हो या ज्ञान का कोई और क्षेत्र हो, पुस्तक लिखने वालों ने बड़ी समस्याएं खड़ी कर दी है क्योंकि उनकी निगाह बनके बेचने वालों और उनके खरीदने वालों पर अधिक रहती है। लेखक की न भी, तो लिखाने वालों का ध्यान इसी ओर रहता है और ऐसा होना अनिवार्य भी है। परन्तु इसका अर्थ यह हुआ कि लेखक अपनी इच्छा को दूसरों की मांग से प्रभावित होकर बनाता है। यह बात कि केवल पुस्तक लिखने ही तक सीमित नहीं जो अपने आप को दर्शनिक कहते हैं वो भी बाहर से प्रभावित होकर अपने विचारों को न दर्शाते हैं। इस स्थिति में जिस प्रकार का सम्बन्ध इन दर्शनशास्त्रियों और फिर शिक्षा शास्त्रियों ने दर्शन और शिक्षा के बीच बना दिया है वो अदार्शनिक और अशिक्षित है। उदाहरणों की आवश्यकता नहीं, पुस्तकालयों में सामग्री मिल सकती है।

अच्छा तो फिर अब मुख्य बात की ओर थोड़ा स्पष्ट रूप से चलें तो देखिये शिक्षा की प्रणाली जो भी होगी, जैसे भी बनायी जायेगी, वो प्रारम्भिक रूप से किसी विचारधारा, किसी विश्वास किसी लक्ष्य, किसी वास्तविकता ऐसी सभी संबन्धित बातों को लेकर बनेगी। प्रणाली का शब्द तो मैंने आवश्यकता से अधिक प्रयोग कर लिया। मैं तो यह कहना चाहता हूं कि शिक्षा की प्रारम्भिक कल्पना फिर शिक्षा विचार, फिर शिक्षा सिद्धान्त, फिर शिक्षा विधि यह सब किसी न किसी एक फिलासफी या एक से अधिक फ़िलासफ़ीज़ (मार्गदर्शनों की) मिश्रण पर ही आधारित होगी। इस प्रकार दर्शन ही वो ज्ञान का क्षेत्र बना कि जो शिक्षा को जन्म देगा। ऐसा भी हो सकता है और देखने में आया भी है कि कुछ शिक्षा शास्त्री कहलाने वाले व्यक्ति या शिक्षा अधिकारी ऐसे भी होते हैं कि न तो वह जन्म से ही दार्शनिक होते हैं और न ही उन्होंने फ़िलासफ़ी पढ़ी होती है तो कोई बात नहीं और सोचिए तो बात है भी परन्तु इनके मन से भी जो कुछ आयेगा वो इनकी फ़िलासफ़ी न सही, किसी और की फ़िलासफ़ी पर आधारित होगा। भले ही ये इस बात को समझे भी न हों और यह भी है कि ऐसे व्यक्तियों की दी गई शिक्षा प्रणाली बल्कि शिक्षा विचार देने वालों के विचार और प्रणाली अशिक्षित होंगी। भले ही सरकार दरबार की सहायता या कृपा से उन्हें यह अवसर मिल चुका हो और उन्होंने अयोग्यता के होते हुए अपनी काव्यी योग्यता के आधार पर, अधिकारी रूप से ऐसा कुछ बना करके अपने देश के

लिए या संसार के लिए देना चाहा हो और वो लागू भी होता चला जाये यह अलग बात है चाहे किसी भी देश की हो। दार्शनिकता, सिद्धान्त और नियम अलग हैं। और अधिकार जमाओ, काम चलाओ, अपनी चलाओ राजनीति अलग है। नागरिकों को तो मान लेना ही होता है परन्तु दार्शनिक इस पर विचार किये और टिप्पणी दिये बिना नहीं रह सकता। संक्षेप में जब तक कि शिक्षा कल्पना, शिक्षा विधि फिर शिक्षा शास्त्र और आगे शिक्षा शासन शिक्षापाठ, और शिक्षा प्रणाली लाभदायक और चलने वाले प्रत्ययों अर्थात् दर्शन पर आधारित नहीं होंगे, वो शिक्षा अच्छी शिक्षा तो क्या बल्कि कहना उचित है कि वो तो ऐसे ही समय काटना या भद पीटना होगा।

अब आईए अपने देश की ओर, तो पहले तो यह बात है कि अब हम स्वतंत्र हैं। हम अपना मार्गदर्शन निश्चित कर सकते हैं और करना चाहिए भी। हमें स्वतंत्रता मिली, ईसाई, राजा, और पूंजीवाद से और हम एक लोकतंत्र हैं, धर्मनिरपेक्ष हैं और समाजवादी हैं। लोकतंत्र, समाजवाद, और धर्मनिरपेक्षता को मिला कर एक आधार शिला हमारे संविधान की बनी और हमने इसको एक बुनियादी दर्जा देकर दुनिया के सामने रख दिया। इसी से हमारी शिक्षा कल्पना और शिक्षा विचार, शिक्षा सिद्धान्त अर्थात् शिक्षा शास्त्र निकलता है तो अब सारे देश के लिए इसी दर्शनिकता पर आधारित हमारा भारतीय शिक्षाशास्त्र है और शिक्षाप्रणाली इस शिक्षाशास्त्र से निकल कर बने। शिक्षा प्रणाली मेरे लेख से बाहर की बात हो जाती है इसीलिए विस्तार के साथ यहां कहना उचित नहीं।

यूं भी यह तो मैं मानता हूं कि शिक्षा शास्त्र दर्शनशास्त्र से ही निकल कर आये परन्तु दार्शनिकों की गुत्थियों में उलझ कर रहना तो अच्छा नहीं। इसी कारण विज्ञान से भी हमें सामग्री लेनी होगी। विज्ञान या सांईस भी ज्ञान का नाम है। परन्तु उस ज्ञान का कि जो अनुभव द्वारा हो और ऐसा कि जिसे हम "जाना हुआ" कहें, दूसरों को उसका अनुभव भी कराते चलें। जहां तक शिक्षा का सम्बंध है यहाँ भी हम साईन्स को लेकर चलेंगे क्योंकि जो वास्तविकताएं वो सामने रखती है, उनको छोड़ा नहीं जा सकता। परन्तु साईन्स की भाषा तो फ़िलासफ़ी ही बनेगी। साइन्स तो एक नौकरानी से अधिक नहीं जबकि फ़िलासफ़ी उसके मास्टर की तरह है। साइन्स को

अगर फ़िलासफ़ी का साया न मिले तो वह सूखा पेड़ है और फ़िलासफ़ी को साइन्स मिट्टी की न मिले तो पेड़ ही नहीं उगेगा। किसी पेड़ के ऊपर अमर वेल या घास वेल के समान कुछ हो सकता है। अब बीच में आ जाती है ऐसी बातें जैसे धर्म, भाषा, परम्परा, सभ्यता तो केवल धर्म को ही लीजिए तो धर्म का शब्द अगर में प्रयोग करूं तो फिर मेरा एक लेख कम से कम १२ लेखों में परिवर्तित तो अवश्य ही हो जायेगा क्योंकि गीता ही में धर्म का शब्द १२ से भी अधिक अर्थों में प्रयोग में आया है। हाँ, देश विदेश की पुस्तकों में विशेष कर आजकल हमारे विद्यालयों में जब कि हम अंग्रेजों की लिखी पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद करके अपने विद्यार्थियों को पढ़वाते हैं तो वहाँ धर्म की जगह रिलीजन (Religion) का शब्द मिलता है तो अब आसानी हो गई। रिलीजन भी फ़िलासफ़ी का ही एक भाग है। जो तर्क से अधिक विश्वास पर, अनुभव से अधिक बुद्धि को महत्व देता है। जड़ या पुद्गल से अधिक आत्मा को। विचार, तर्क, अनुभव विश्वास, अंधविश्वास इन सब से सम्बन्धित प्राचीन कालों से चले आ रहे वाद-विवाद को मन ही में रखें, इतना ही कहना उचित है कि रिलीजन को भी फ़िलासफ़ी मान कर चला जाये और जो नाना प्रकार के फ़िलासफ़ी के विद्यालयों के होते हुए काम चलता चला आ रहा है वो ही काम नाना प्रकार के रिलीजनों के होते हुए भी चल सकता है। और ऐसे ही बीच का रास्ता निकालना अनिवार्य है। वैसे भी एक उदाहरण पर्याप्त है। बौद्ध दर्शन को ही लीजिए कि कितना साधारण था और अब उसके कितने विद्यालय बन चुके और उनके बीच कितना-कितना अन्तर है। और कैसे-कैसे वाद-विवाद होते हैं।

तो काम केवल शिक्षा में पढ़ना-और पढ़ाना ही तो फिर हम अपना एक मार्ग-दर्शन निश्चित करें और उस पर आधारित एक शिक्षाशास्त्र फिर शिक्षा विधि और शिक्षाप्रणाली और यह सारे देश के लिये हो, एक समान हो, अमीर गरीब सब के लिये हो। सबको एक समान अवसर मिले। नास्तिक आस्तिक सबके लिये हो किसी पर कुछ थोपा न जाये। दर्शन यही बताता है कि सोचिये समझिये, समझाईये, सुचवाईये, मानिये और मनवाईये। थोपा-थापी मत कीजिये। अगर शिक्षा प्रणाली में भी ऊंच नींच रहा तो फिर कभी भी हम इस मुख्य और पवित्र लक्ष्य अर्थात् राष्ट्रीय एकता को पूरा नहीं कर सकते। राष्ट्रीय एकता बाधा के कारण और उन कारणों

के आधार दीन-धर्म ही एक नहीं बल्कि दूसरे आधार भी हो जाते हैं । जिन में गरीबी और अनपढ़ता. ऐसी बातें बहुत हानिकारक हो सकती हैं । इसलिए हमारे देश के लिए ऐसा मार्गदर्शन ही होना अनिवार्य है कि जो इस वास्तविकता पर आधारित हो कि इस देश में हर रंग की मिट्टी, हर स्वाद का जल और हर रंग के निवासी, गर्मी-सर्दी के अन्दर वर्षा में पांच ग्रिडी से लेकर पांच सो गिड़ी तक का अन्तर मिलता है। और फिर धर्म भाषा, परम्परा आदि भी हैं । तो संक्षेप में हम यही कहेंगे कि भौगोलिक और सामाजिक वास्तविकताओं को सामने रखते हुए मार्गदर्शन निश्चित करें । और अधिक उखाड़-पछाड़ में न जाते हुए संविधान पर आधारित शिक्षा प्रणाली के द्वारा अपने मार्गदर्शन को संसार के सामने लायें। अब स्वतंत्र देश के लिये स्वतंत्र दर्शन, स्वतंत्र बाल दर्शन, स्वतंत्र शिक्षाशास्त्र, स्वतंत्र शिक्षा विधि और स्वतंत्र शिक्षा प्रणाली की आवश्यकता है परन्तु स्वतंत्रता का कार्य यह नहीं कि हमें हम किसी बात के पाबंद नहीं। अन्तर यह है कि अब हम अपनी बात ऐसी सूझबूझ के साथ बनायें और कहें फिर उसकी पाबन्दी करे । जब स्वतन्त्र नहीं थे तो अंग्रेजों की बात की पाबन्दी करनी पड़ती थी।

हम अधिक बल दें फ़िलासफ़ी आप साइन्स पर, सोशियोलॉजी पर (समाजशास्त्र), साइक्लोजी (मनोविज्ञान पर, और मन, शरीर वातावरण से संबन्धित वास्तविकताओं को राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय दोनों ही ओर ध्यान देकर हम अपनी शिक्षा को अपनायें ।

मैंने बीच बीच में अपने देश की बात की । बात केवल भारत का ही नहीं है यह तो सारी मानव जाति के लिये है और अब समाप्त करने से पहले मैं पूर्ण बल देकर यह बात कहूंगा कि दर्शन और शिक्षा में एक प्रकार से माँ–और पुत्री का सम्बन्ध है । दर्शन ही शिक्षा को रूप-स्वरूप दे सकता है । सीखना केवल सीखना और बात है शिक्षा और बात । शिक्षा के लिए विचारधारा चाहिए और यह तभी हो सकता है कि मनुष्य में जो चेतना, विचार शीलता और सामाजिकता है और बुद्धिमानता ऐसे गुण है वो सब मिल कर उसका दार्शनिकता देते हैं । आज दार्शनिकता एक ऐसा भवन है कि जिसकी सामग्री अर्थात् मिट्टी साइन्स है और उसको बनाने वाला दार्शनिक । और इन दोनो से जो सीखना

सिखाना निकले वह शिक्षा । एक वाक्य में यही कहना उचित है कि दर्शन बाप है और साइन्स माँ और शिक्षा पुत्री। या पुराने घिसे-पिटे शब्दों का प्रयोग करूं तो Matter जड़ या पुदगल साइन्स Science आत्मा Soul या स्प्रीट या फ़िलासफ़ी और इस विशेष क्षेत्र में FORM आकार शिक्षा। जैसे भी कहो फ़िलासफ़ी, साइन्स और शिक्षा एक साथ होते ही हैं।

ख्वाजा एम० ए० हयी
क्वाटर नं०-५६, ज़ाकिर हुसैन कालिज
कम्पाउन्ड (ऐतेमादुददौला मानुमेंट)
अजमेरी गेट, दिल्ली-११०००६

समकालीन शिक्षा एवं मूल्य

यह सत्य है कि किसी भी राष्ट्र के विकास में शिक्षा का प्रथम स्थान होता है। यह बात अलग है कि किसी भी राष्ट्र में शिक्षा को किस रूप में ग्रहण किया जाता है अथवा शिक्षा किस प्रकार से दी जाती है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि "शिक्षा" क्या है? क्या इस का स्वरूप अपरिवर्तन-शील है? यदि हां तो फिर इसका स्वरूप क्या है? यदि नहीं तो कौन से ऐसे तत्व हैं जो इसके स्वभाव को प्रभावित करते हुए इसे परिवर्तनशील बना देते हैं।

शिक्षा क्या है? शिक्षा शब्द का प्रयोग कभी विस्तृत तथा कभी बहुत संकीर्ण अर्थ में किया जाता है। "विस्तृत" अर्थ में प्रत्येक मनुष्य के अनुभव को शिक्षा कहा जा सकता है। अर्थात् अपने अनुभवों से जो कुछ भी सीखा जाए उसको हम शिक्षा की कोटि में रख सकते हैं। दूसरे शब्दों में 'समस्त मानव जीवन ही शिक्षा है।"

"संकीर्ण" अर्थ में शिक्षा किसी निश्चित समाज या समुदाय की उस व्यवस्था तक सीमित है जहां नियंत्रित परिस्थिति में मात्र औपचारिकता सिखाई जाती है। विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा को इसी कोटि में रखा जा सकता है। शायद यही कारण रहा हो कि रवीन्द्रनाथ टैगौर जैसे महापुरुषों ने विद्यालयों में दी जाने वाली शिक्षा के प्रति कोई रुचि नहीं दिखायी। यही नहीं प्रसिद्ध वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन तथा राबर्ट क्लाइव अपने विद्यालय में मूर्ख समझे जाते थे।

महान् दार्शनिक पेस्टालॉजी ने शिक्षा की परिभाषा इस प्रकार की है। "मनुष्य की स्वाभाविक शक्तियों का प्राकृतिक और प्रगतिशील विकास ही शिक्षा हैं।" जी० एच० टॉमसन ने कहा है कि "किसी व्यक्ति पर उसके व्यवहार विचार और धारणाओं में स्थाई परिवर्तन करने वाले वातावरण का प्रभाव ही शिक्षा है।"

महात्मा गाँधी ने लिखा था "शिक्षा से मेरा तात्पर्य यह है कि बालक या मनुष्यों के शरीर, मन और आत्मा के व्यापक श्रेष्ठ तत्व विकसित कर दिये जाये ।"

अथर्ववेद के अनुसार शिक्षा का अर्थ है "बालक या मनुष्य को इस योग्य बना देना कि उसमें श्रद्धा और मेधा उत्पन्न हो, वह संतति का उत्पादन कर सके । तथा धन आदि अमृत तत्व प्राप्त कर सके ।

उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर यदि यह कहा जाये कि "शिक्षा का अर्थ एक ऐसे सामर्थ्य से है जो किसी भी व्यक्ति देश व समाज के नैतिक, बौद्धिक तथा शारिरिक उत्थान में सक्षम हो", तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । अत. 'शिक्षा वह कला है जो किसी भी व्यक्ति समाज या राष्ट्र में निहित बुराइयों को मिटाती हुई उनको विकासोन्मुखी बनाती है ।"

मेरे विचार मे शिक्षा का स्वभाव अपरिवर्तनशील है । इसको सही परिपेक्ष में न तो समझने से ही हम इसके स्वभाव को परिवर्तनशील समझ बैठते हैं । कतिपय विद्वान् शिक्षा व्यवस्था की चर्चा करते हुए शिक्षा व्यवस्था की जगह शिक्षा को ही परिवर्तनशील बताने लगतें है । लेकिन ऐसा उचित नहीं है । यदि कोई शिक्षा है तो उसको सार्वभीम होना चाहिये ।

वर्तमान समय में ऐसी धारणा बन चुकी है कि मात्र पुस्तकीय ज्ञान को ही शिक्षा समझा जाने लगा है । शिक्षक के व्यक्तित्व को ही शिक्षार्थी के सर्वागींण विकास के लिये उत्तरदायी बताया जाता है । वस्तुत: मैं इस विचार से असहमति प्रकट करते हुए इस विचारधारा को एक आवश्यक बुराई समझता हूं । मेरी यह असहमति वर्तमान ही नहीं अपितु उस प्राचीन विचारधारा से भी है जिसके अन्तर्गत भारतीय गुरु (बटु) शिष्य का दाहिना हाथ पकड़ कर पूछते थे—किं नामासि ? (तुम्हारा क्या नाम है ? (और वह कुमार (बटु) कहता था—असौ अहम् भी: (मैं अमुक हूं । पुनः गुरु पूछते थे–कस्य ब्रह्मचारी) तुम किसके ब्रह्मचारी हो ? वह कुमार कहता था "भवत:" (आपका) इस साक्षात्कार के बाद बालक का विद्यालय में प्रवेश हो जाता था और अंत में दीक्षा दिये जाने के बाद गुरु कहते थे कि तुम्हारा और मेरा मन एक हो गया ।" इस प्रकार जीवन पर्यन्त के लिये शिष्य गुरु का सेवक बन जाता था ।

उपरोक्त व्यवस्था के अन्दर शिक्षार्थी के स्वच्छन्द विकाश तथा उसमें नवीन

कल्पनाओं का अभाव ही हरिलक्षित होता हैं। यहाँ यह उल्लेख भी प्रसंगानुकूल ही लगता है कि शिक्षा और विद्या।

प्रबोधन या ज्ञान सस्कार पर्यायवाची या समानार्थी शब्द नहीं है। हम उदाहरण के द्वार इन के—

अन्तर को समझ सकते हैं। सर्कस के हाथी घोडों आदि का अपने "मनुष्य-शिक्षक" के आदर्शा नुसार अनुकरण शिक्षा (Instruction) है, जब कि प्रबोधन शिक्षा से नहीं, बल्कि विद्या से प्राप्त होते हैं। सर्कस के उपरोक्त जानवरों को हम शिक्षा दे सकते हैं, लेकिन रामायण, गीता या ज्योतिष नहीं समझा सकते, क्योंकि दर्शन पुराण आदि तत्व बोध क अंग है। यह विद्या उपदेश अनुभव, अध्ययन और अभ्यास से आती है। इस विद्या का जीवन में समयानुकूल कल्याणकारी व्यवहार ही शिक्षा व्यवस्था।

है। वर्तमान समय में शिक्षा शब्द के व्यापक प्रयोग के कारण हम सभी इस का प्रयोग शिक्षण तथा अध्यापन दोनों के लिये करने लगे हैं।

इन शब्दों (शिक्षा एवं विद्या) पर गहराई से विचार करते हुए हम कह सकते हैं कि वर्तमान समय में विभिन्न शिक्षण संस्थानों में हम शिक्षण कार्य करते हैं अध्यापन कार्य नहीं। यही कारण है कि आज के शिक्षक और शिक्षार्थी मात्र—पुस्तकीय ज्ञान तक ही सीमित रहते हैं। यदि विद्या शब्द की गरिमा को समझते हुए हम अध्ययन अध्यापन के महत्व को भी समझ सकें और इसे व्यावहारिक रूप दे सकें तो मुझें विश्वास है कि हम विभिन्न विद्यालयों में पढ़ती हुई अनुशासन हीनता को काफी सीमा तक समाप्त कर सकते हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हमें अपनी शिक्षा व्यवस्था की ओर अधिक ध्यान देना होगा। विद्यार्थियों की वैद्य तथा अवैद्य उपायों से परीक्षा उत्तीर्ण करने की होड़ तथा निर्धारित पाठ्यक्रम के माध्यम से प्रमाण-पत्र प्राप्त करने की दौड़ को समीचीन वनाना होगा। ऐसा करने के लिये हमें शैक्षणिक प्राठ्यक्रम को अधिक मूल्यात्मक एवं समयानुकूल वनाना होगा) तथा शिक्षा व्यवस्था का पुर्नमूल्यांकन करना होगा।

शिक्षा के संदर्भ में जब हम 'मूल्य' शब्द की बात करते हैं तो इस का अर्थ उस लक्ष्य की ओर इशारा करना होता है जिसको प्राप्त कर लेने पर प्रत्येक विद्यार्थी

'सन्तोष का अनुभव करने लगे। कहने का तात्पर्य यह है कि विद्या ग्रहण करने के बाद विद्यार्थी में स्वयं के प्रति देश के प्रति और सम्पूर्ण मानव के प्रति—जागरूकता तथा कर्तव्य–अकर्तव्य का प्रादुर्भाव हो सके। क्योंकि शिक्षा ही नैतिक सामाजिक और आर्थिक सफलताओं की कुंजी है।

किसी भी समाज के सर्वांगीण विकास के लिये "योजनाबद्ध शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान सरकार का इस दिशा में कदम तथा अधिक धन की व्यवस्था सराहनीय है, यह बात अलग है कि इस दिशा में कार्यरत प्रशासनिक तथा शिक्षा शास्त्री किस प्रकार की शैक्षणिक व्यवस्था का प्रावधान करें और इसके लिये आवंटित धनराशि को किस प्रकार से व्यय करें। वर्तमान योजना के अन्तर्गत शिक्षा के लिये अधिक धन आवंटित करने का उद्देश्य शिक्षा को अधिक महत्व देना ही रहा होगा। क्योंकि इस सत्यको छिपाया नहीं जा सकता कि किसी भी समाज की उचित व्यवस्था और उसके चहुर्मुखी विकास के लिये शिक्षा उसकी आवश्यक आवश्यकताओं में अग्रगण्य है। इस प्रकार किसी भी उन्नत समाज के लिये शिक्षा की मौलिक भूमिक को अनदेखा नहीं किया जा सकता। शिक्षा में संचरणशीलता (Transmissibility) के अतिरिक्त भविष्य के लिये सुनहरा आधार तैयार करने की क्षमता भी होती है। किसी भी समाज में क्रान्तिकारी उन्नति लाने का श्रेय शिक्षा या शिक्षाविदों को ही जाता हैं। या यों कहा जाये कि किसी भी समाज को सम्पन्नता की ओर बढ़ाना ही शिक्षा का उद्देश्य होता है हमारे देश में विभिन्न शिक्षा सम्प्रदायों, केन्द्र तथा प्रदेशों और शिक्षाविदों तथा शिक्षार्थियों के मध्य शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्थाओं में उचित ताल मेल की कमी के कारण, शिक्षा के क्रान्तिकारी परिणाम नहीं मिल सके हैं। अपने राष्ट्र की उन्नति और एकता के लिये, स्वतन्त्रता के लगभग चालीस वर्षों के अन्तराल में भी हम एक राष्ट्र भाषा नहीं अपना सके हैं। विभिन्न सरकारी विद्यालयों तथा गैर सरकारी विद्यालयों के स्तरों में बहुत बड़ा अन्तर आज भी स्पष्ट दिखायी देता है। पब्लिक स्कूलों से पढ़े हुए बच्चों की अपेक्षा अधिक प्रखर पाये जाते हैं, तथा यही विद्यार्थी अधिकाँश प्रशासनिक तथा अन्य उच्च पदों पर नियुक्त होते हैं। मैं नहीं समझता कि मूल रूप से इन विद्यार्थियों के बुद्धि के स्तर में कोई अन्तर होता है। शायद इसका कारण सरकारी विद्यालयों में पढ़ाने वाले शिक्षकों का अपने कर्तव्य पालन में

अनुदारता ही है। अतः शिक्षा के उचित प्रसार में अध्यापकों की भूमिका को नजर अन्दाज नहीं किया जा सकता।

लेकिन अपने कर्तव्यों के प्रति अनुदारता तथा अकर्मण्यता के लिये केवल शिक्षकों को ही दोष देना समीचीन नहीं होगा, क्योंकि उचित उन्नति के अवसरों, अच्छे वेतन तथा अन्य आवश्यक सुविधाओं के अभाव में शिक्षक ही नहीं कोई भी कर्मचारी अपने कर्तव्य के प्रति उदासीन हो सकता हैं। श्रम की गतिशीलता के माध्यम से इस बात को अच्छी तरह से समझा जा सकता हैं।

विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों द्वारा संचालित परीक्षायें मात्र स्मृति परीक्षा रह गई हैं। और यदि कहा जावे कि परीक्षायें परीक्षा की औपचारिकता या खाना पूर्ति मात्र हैं तो गलत नहीं होगा। उदाहरण के लिये विद्यार्थी को अध्यापक द्वारा कक्षा में लोकतन्त्र या समानता आदि का जो अर्थ समझाया गया, पूछे जाने पर यदि विद्यार्थी अपनी स्मृति से परीक्षा में उसी अर्थ की पुनरावृत्ति कर देता है, या नकल आदि के माध्यम से अध्यापक द्वारा कही गई या पुस्तकों में लिखी बात को लिख देता है तो वह शत प्रतिशत अंक ले जाता है। यही क्रम सदा बना रहता है। यदि प्रारम्भ से ही विद्यार्थी को विश्लेषणात्मक या आलोचनात्मक उत्तर के लिये प्रेरित किया जाये तो हमें इस सन्दर्भ में बहुत सारी नई बातों का पता चल सकता है। नकल जैसी भयानक बीमारी का उपचार भी बहुत आवश्यक है।

शिक्षा पाठ्यक्रम में हमें अपने प्राचान भारतीय मूल्यों, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को आवश्यक रूप से सम्मिलित करना चाहिये। मुझे तो ऐसा लगता है कि इन चार पुरूषार्थो में शिक्षा के ही नहीं अपितु आदर्श मानव समाज के लिये आवश्यक सभी मूल्य समाविष्ट हैं। विज्ञान के इस युग में भी इन पुरूषार्थो का शिल्प विज्ञान (Techonology) आदि से विरोध दिखाना अनुचित ही नहीं अदर्शनिक भी है। यहां यह उल्लेखनीय है कि कतिपय विद्वान् शिल्पविज्ञान के साथ धर्म का विरोध दिखाने की कोशिश करते हैं। शायद उन का यह विरोध धर्म को ठीक प्रकार से न समझ सकने के कारण ही हैं। अधिक विस्तार में न जा कर मैं यहाँ केवल यही कहना चाहूंगा कि **'धर्म सार्वभौम'** होता है। कतिपय विचारधाराओं, पन्थों आदि को

'धर्म' समझ लेना न तो व्यक्ति के और नहीं राष्ट्र के हित में हो सकता है। धर्म को समझाने के लिये मनु ने धर्म के निम्न दस लक्षणों का उल्लेख किया है। उनको मध्य नजर करके ही किसी भी विचार या नियम को धर्म की संज्ञा दी जानी चाहिये। इस सन्दर्भ में मनु, व्यास और तुलसी आदि के विचारों पर ध्यान सहज ही चला जाता है।

(धृति क्षमा दमो स्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधी दशकं धर्मलक्षणम् ॥)
व्यास जी ने विद्या के विषय में कहा है—
'अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचन-द्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम् ॥'
गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है :—
"परहित सरिस धरम नहीं भाई।
परपीड़ा सम नहीं अधमाई ॥"

संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारतीय महर्षियों के अनुसार मनुष्य की लौकिक चेष्टायें वित्तैषणा, संतानैषणा तथा लोकैषणा के लिये पी होती है। इस के अतिरिक्त कुछ प्रवुद्ध व्यक्ति मोक्षैषणा भी करते हैं।

हमारे देश में शिक्षा के प्रकारों में उपदेश, अध्यापन, शासन, पाठन, प्रबोध, आदेश, निर्देश, नियोग, विधि तथा निषेध प्रमुख रहे हैं। धर्म के अन्तर्गत शिक्षा के ये सभी प्रकार सन्निहित हैं। अतः धर्म नामक पुरूषार्थ को पंथ आदि समझना महान भूल होगी। वास्तविकता तो यह है कि मानव समाज में सार्वभौम धर्म की शिक्षा ही मानव को मानव बनाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान शिक्षा पाठ्यक्रम में धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष नामक को पुरूषार्थो को समान रूप से सम्मिलित किया जाना चाहिये लेकिन किसी भी परिस्थिति में पंथ विशेष द्वारा प्रेरित शिक्षा सम्पूर्ण राष्ट्र के हित में नहीं हो सकती है। क्योंकि भारत जैसे धर्म निरपेक्ष राष्ट्र में किसी भी व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता पर अंकुश नहीं लगाया जा सकता।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि व्यापक अर्थ में **'समस्त मानव जीवन शिक्षा ही है।'** वे सभी व्यवहार तथा साधन जो मानव ज्ञान की परिधि को पोषित करें, अन्तर्दृष्टि को गम्भीर बनाये तथा सम्पूर्ण मानव जाति के उत्थान के लिये मार्गदर्शन करें, वही शिक्षा के औपचारिक तथा अनौपचारिक रूप हैं। शिक्षा मनुष्य की मौलिक आवश्यकता है। यही कारण है कि "वैदिक काल में धर्माचरण को को ही शिक्षा समझा जाता था।"

एक ज्वलन्त प्रश्न यह भी वे कि शिक्षा कौन दे या वे कौन से गुण हैं जो किसी भी व्यक्ति को योग्य शिक्षक बनाने में सहायक होते हैं। मेरे विचार में किसी भी अध्यापक के व्यक्तित्व का उसके अध्यापन में विशेष योगदान रहता है। उसका व्यक्तित्व आकर्षक, माता के समान प्रेम वर्धक, मित्र के समान विश्वासोत्पादक और कभी-कभी पिता के समान तर्जनशील भी होना चाहिये। इसके अतिरिक्त उसको सुदर्शन, सहानुभूति पूर्ण, विद्वान, आदर्श, सुघड़ एवं उदार होना चाहिये अध्यापक में उपरोक्त गुण इसलिये भी आवश्यक है क्योंकि विद्यार्थी गुरूजनों का अनुकरण करते हैं और इस अनुकरण का मनुष्य जीवन में बहुत बड़ा महत्व है। भगवान श्री कृष्ण ने गीता में कहा है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्ततदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरूते लोकस्तदनुवर्ततें ।।

किसी भी अध्यापक में इन गुणों को प्रादुर्भाव बहुत सारी परिस्थितियों पर निर्भर करता हें। शिक्षकों को समय-समय पर विचारों का आदान प्रदान करने के लिये देश तथा विदेश में आयोजित होने वाली विचार गोष्ठियों में भाग लेने की सुविधा, पर्याप्त वेतन, प्रशासनिक असुविधाओं से मुक्ति तथा पदोन्नति के अवसर प्रदान किये जाने चाहिये। परीक्षा आदि से उत्पन्न होने वाली आपत्तियों के समय उचित संरक्षण प्रदान किया जाना चाहिये। इन सुविधाओं के अभाव में शिक्षक केवल वेतन मात्र के लिये अपने कर्तव्यों का निर्वाह करेगा जो सम्पूर्ण शिक्षा जगत के लिये दुर्भाग्य पूर्ण ही हो सकता है। वर्तमान शिक्षा के स्वर में क्रमशः गिरावट इसी आघात का परिणाम है। अतः हमें अपनी शिक्षा नीति में प्राचीन भारतीय मूल्यों को समान

रूप से सम्मिलित करना चाहिये। अध्यापकों को उचित सुख सुविधाओं तथा विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा के समान अवसर प्रदान किये जाने चाहिये। समाज में कमजोर वर्ग के लोगों को आर्थिक सहायता तथा शिक्षा में उचित आरक्षण मिलना चाहिये। लेकिन यह आरक्षण सुविधा परीक्षा परिणामों या सविल सिर्विस, पुलिस सर्विस या अध्यापकों के पदों की पूर्ति के समय जबरन क्रियान्वित नहीं की जानी चाहिये। ऐसा करने से शिक्षा, प्रशासन तथा अन्य सेवाओं के स्तरों में दिन प्रतिदिन गिरावट की आशंका बनी रहेगी। अर्थात् शिक्षा में प्रवेश के समय आरक्षण तथा आर्थिक सहायता तो कमजोर वर्ग को अवश्य मिलनी चाहिये, लेकिन इन अवसरों को प्राप्त करने के बाद चयन का मापदण्ड सभी वर्गों के लिये समान होना चाहिये।

(डा०यू०एस० विष्ट)
दर्शन विभाग
गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार।

राष्ट्रीय कान्फ्रेंस

१६, १७, १८, मई, १९८७ गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, (उ० प्र०)

संगोष्ठी

भर्तृहरि का भाषा दर्शन

भर्तृहरि के भाषा दर्शन को शब्द ब्रह्म मैं या शब्द स्फोट का सिद्धान्त कह सकते हैं। स्फुट् शब्द की मूल ध्वनि परम सत् के आत्मोदगम की अभिव्यंजना में हैं । भाषा के परा और अपरा स्वरूपों का उद्गम, विकास और अर्थ की दृष्टि से उनके अन्तरंग सम्बन्ध की व्याख्या अद्वैत से कुछ भिन्न है । वर्तमान फिनॉमिनॉलॉजिकीत प्रणाली पर यह सम्बन्ध कुछ अधिक स्पष्ट होता है जिसमें नान अभिव्यक्तियों को परम की वास्तविक विविध अभिव्यक्तियों का गौरव प्राप्त है।

स्फोटवाद माना दर्शन सम्प्रदायों में भिन्न प्रकार से ख्यापित हैं किन्तु सारभूत बात यह है कि भाषा की अभिव्यक्ति परम-तत्व के संदर्भ में जीवों में किस प्रकार उद्भूत और अभिव्यक्त होती है। इसके साथ ही मानव जाति में भाषा के विविध स्तर और कार्य, अर्थ की विविधता और एकता के साथ विभिन्न भाषाओं में समझे जाने योग्य रूप में किस प्रकार प्रस्तुत होते हैं, इसकी व्याख्या भी इस सिद्धान्त में निहित हैं।

केन्द्रीय महत्व की बात शब्द ब्रह्म का सिद्धान्त है किस प्रकार सूक्ष्म और मूर्त रूपों में अभिव्यक्त होता है तथा इसका साक्षात्कार अपनी गहनताओं सहित जीवन में चरितार्थ हो सकता हैं। इसमें एक आदेश या निर्देश और निहित है कि आत्मारोपित या आप्त ऋषि द्वारा समाहित शब्द ब्रह्म मनुष्य को अस्तित्व

के उच्च स्तरों की ओर ले जा सकता है । इस सिद्धान्त का यह पक्ष विश्वमंच को एक अपूर्व योगदान है।

शब्द ब्रह्म की अभिव्यक्ति की प्राकृतिक प्रक्रिया और मानव जाति द्वारा इसकी ऊंचाई और गहराई को पाने की वाँछित चेष्टा और उपलब्धि इस सिद्धान्त के दो पक्ष हैं।

इस प्रकार यह तथ्य और मूल्य द्वारा प्राप्तव्य एक विविधायामिक उद्योग है। यह मानव अस्तित्व का तादात्म्य शब्द ब्रह्म से करता हैं और मानवता का औचित्य इस कसौटी से स्थापित करता है कि मनुष्य को उसके शब्द के लिए जीना चाहिए । यह एक संगत प्रगति का राजमार्ग है--तुलसी ने जिसे रघुकुल रीति के रूप में गया हैं—

रघुकुल रीति सदा चलि आई ।
प्राण जाइ पर वचन न जाई ॥

सधन्यवाद,

भवदीया,

१५-४-८७,

डॉ० (कु० अनिल तनेजा,

और-३५, सिविल लाइन्स,
स्वागत भवन के पास,
भरतपुर।

स्नातकोत्तर दर्शन विभाग,
महारानी श्री जया महाविद्यालय,
भरतपुर, (राज०)

शिक्षा और राजनीति

उदर प्रताप त्रिवेदी,

शिक्षा व्यक्तित्व के उत्स को उजागर करती है और अर्न्तनिहित शक्तियों को विकसित करती है। व्यक्ति की तेजस्विता शिक्षा द्वारा प्रस्फुटित होती है। व्यक्ति ही नहीं, समाज की प्रगति भी शिक्षा पर ही निर्भर है। व्यक्ति की ही भांति समाज भी शिक्षा के माध्यम से अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखता हैं, अपने भविष्य को दिशा बोध करता है, प्रतिगामी शक्तियों पर विजय प्राप्त करता है और स्वयं को प्रगति के पथ पर अग्रसर करता हैं। शिक्षा अद्‌भुत शक्तिदायी प्रक्रिया है और मनुष्यत्व में देवत्व का अरोपण करने की इसमें क्षमता विद्यमान है।

किन्तु शिक्षा अपनी शक्ति व क्षमता का स्वतंत्र उपयोग नहीं कर पाती। यह सामाजिक गतिविधियों से असंप्रयुक्त नहीं होती। इस पर सामाजिक-आर्थिक संघात महत्वपूर्ण है और सर्वाधिक महत्वपूर्ण है—राजनीतिक संघात यदि देश की राजनीतिक दशा शिक्षा को उचित स्थान देने के अनुकूल हैं तो शिक्षा अपनी गौरवमयी भूमिका निभायेगी, अन्यथा वह शिक्षित बेरोजगारों की भीड़ बढ़ाने में सहायक होगी।

शिक्षा और राजनीति सगी बहनें हैं। दोनों का अलग रहना कठिन है। किन्तु अब राजनीति अभद्र को वरण कर ले तो शिक्षा को भी क्या बलात् अभ्रद्र को ही अपना लेना चाहिये शिक्षा स्वभावत: नैतिक नियमों का वरण करना चाहती है। "शिक्षा" शब्द से ही नैतिकता की ध्वनि निकलती है। दोनों सगी बहनों के स्वभाव भिन्न है। राजनीति में दर्प है, बक्रता हे, वाह्य शक्ति है तथा शिक्षा में विनय हैं सरलता है और बल है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। सभ्यता और संस्कृति के विकास के क्रम में शिक्षा ने राजनीति को स्नेह प्रदान किया है और बदले में राजनीति

ने शिक्षा को समुचित आदर दिया है। वशिष्ठ ने रघुकुल नीति को दिशा प्रदान की थी और रघुवंशी राजाओं ने कुलगुरु को उचित सम्मान दिया था। विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण को युद्ध शिक्षा प्रदान की थी और दोनों राजकुमारों ने गुरुदेव की तपस्या को भंग करने वालों को समूल नष्ट कर दिया था। कण्व के आश्रम में गयः तो दुष्यन्त भी था किन्तु उचित मर्यादा के साथ। आचार्य चाणक्य ने भारतीय राजनीति को उचित दिशा प्रदान की तो भारतीय सम्राट चन्द्रगुप्त ने गुरूदेव के आदेशों का अक्षरश: पालन किया। समर्थ गुरु रामदास के प्रति शिवा जी की स्वामी भक्ति उत्कृष्ट थी तो गुरूदेव ने उत्कृष्ट शिक्षा भी प्रदान की।

शिक्षा मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक प्रगति हेतु प्राप्त किया जाने वाला प्रयोजन पूर्ण, सचेतन और लाभप्रद अनुभव और ज्ञान है। जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपने चारों ओर होने वाले कार्यो में अपनी योग्यता के अनुसार भाग लेता है ऐसी दशा में शिक्षा और राजनीति में सह सम्बन्ध होता है। आज के युग में हरेक देश में विद्यालय के लोग विद्यालय के मामलों में राजनीति के प्रवेश के दुखित नही जान पड़ते, वे समझते हैं कि यदि राजनीति का प्रयोग किया जायेगा तो निश्चय ही उससे शिक्षा के वैयक्तिक एवं सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति होगी। इसका कारण यह है कि (जे०एस० ब्रुवेकर—माडर्न फिलासफीज़ आफ एजूकेशन पृष्ठ-५१) राजनीति इस अर्थ में समझा जाने पर तिरस्कार का शब्द नहीं है, अपेक्षाकृत यह राजनीतिज्ञता का समानार्थी है। यह नीति शास्त्र का वह पहलू है जो राज्यों के कर्तव्यों के बारे में बताता है। इस अर्थ में शायद साधारण समाज भी मानेगा कि शिक्षा मुश्किल से राजनीति से अलग रह सकती है।' अब तो स्पष्ट है कि राजनीति के इस शुद्ध और उच्च अर्थ में शिक्षा के लिये उसकी आवश्यकता होती है और आज सभी देशों में राज-नीति का सम्बन्ध शिक्षा की नीति, उसके उद्देश्य एवं उसके प्रसाद आदि से होता है। राज्य एवं शासन का कर्तव्य शिक्षा के लिये बहुत माना जाता है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि विद्यालय भावी नागरिकों को प्रशिक्षित करता है, वह उन्हें इस योग्य बनाता है कि वे अपना और समाज का नव निर्माण करें और प्रगति के पथ पर लोगों को बढ़ाते जावें।

शिक्षा और राजनीति के लक्ष्य परस्पर विरोधी नहीं है। व्यक्ति एवं समाज को अधिकाधिक सुख प्रदान करना दोनों का लक्ष्य है। इस दृष्टि से शिक्षा और राज-

नीति की दिशा एक सी ही है। किसी देश के इतिहास में दूर तक चले जाने पर शिक्षा और राजनीति का पारस्परिक सम्बन्ध स्वत: प्रकट हो जाता है और विश्व का वर्तमान तो इसी बात का साक्षी ही है कि जब-जब राजनीतिक क्रान्तियां हुई हैं तब छात्रों एवं शिक्षकों ने उन क्रान्तियों को सफल बनाया है।

छात्रों को राजनीति में भाग लेना चाहिये या नहीं, यह प्रश्न विवादास्पद हो सकता है किन्तु छात्रों को राजनीति का सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करना तो आवश्यक ही है। देश के प्रबुद्ध नागरिक बनने के लिए उन्हें राजनीति के नियमों से परिचित होना पड़ता है। विवाद केवल व्यवहारिक राजनीति के इतिहास के पृष्ठ पलटने से ज्ञात होता है कि जब-जब किसी देश में राजनीन्कि क्रान्ति का बिगुल बजा, छात्रों ने कोरे द्रष्टा का काम नहीं किया अपितु उन्होंने क्रान्ति की बागडोर सम्भाल ली। भारत में स्वातंत्रय-संघर्ष के काल में छात्र पीछे नहीं रहे। इंडोनेशिया में छात्रों ने सरकार का तख्ता पलट दिया। यूनान में अभी हाल ही में छात्रों ने ही शासन नीति में परिवर्तन करा दिया। बंगला देश को अस्तित्व में लाने के लिए ढाका विश्वविद्यालय के छात्र-छात्राओं ने अभूतपूर्व योगदान दिया।

राजनीति के प्रभाव स्वरूप लोगों को सामाजिक दृष्टिकोण बदलता है आज भारत जनतत्र हो गया है और यहाँ के लोग उसी ढ़ंग से सोच रहे हैं शिक्षा के क्षेत्र शोध की आवश्यकता राजनीतिज्ञों को मालूम पड़ी और इसका प्रभाव यह हुआ कि केन्द्रीय तथा राज्य शासन की ओर से शोध प्रबन्ध प्रशिक्षण के लिये "केन्द्र एवं प्रयोग-शालायें" खोली गयी शैक्षिक शोध एवं प्रशिक्षण की राष्ट्रीय परिषद् इसी तथ्य का साक्षी है कि राजनीति शिक्षा को दिशा को बदलने में कितनी सशक्त होती है। राज-नीति में जनतंत्र के फैलने से मनुष्य का दृष्टिकोण राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा की ओर गया है आज शिक्षणालय में भिन्न प्रजातियां, राष्ट्रीय पृष्ठ भूमियों, धार्मिक विश्वासों, राजनैतिक दृढ़ताओं और आर्थिक परिस्थितियों वाले छात्र एक साथ उठते बैठते एवं परस्पर आचार-विचार बदलते रहते हैं। आज उच्चता और निम्नता का दृष्टिकोण बिल्कुल दूर हो गया है। जिससे शिक्षा की दिशा बदल गई और "समान शिक्षा' की मांग की गयी। यह राजनीति का विप्लवकारी प्रभाव कहा जायेगा।

अन्त में निष्कर्ष स्वरूप हम यही कह सकते हैं कि छात्र एवं अध्यापक राज-नीति से अलग नहीं रह सकते किन्तु वे राजनीतिक दलों के गुलाम भी नहीं बन

सकते। वे भेड़ नहीं है जो राजनीतिक दलों के गुड़रियो का अनुगमन करें। उन्हें पथ प्रदर्शक, सूत्रधार, क्रान्ति के द्रष्टा तथा समाज के उन्नायक के रूप में कार्य करना है उन्हें राष्ट्र के भाग्य का निर्माता बनता है और राष्ट्र निर्माण के लिये उन्हें विद्यालय महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में उच्चकोटि का सैद्धान्तिक विश्लेषण करना है, चिन्तन मनन करना है, विचार मंथन करना है एवं समाज की बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकूल जीवन मूल्यों का सृजन कर का है और यह तभी संभव है कि जब राजनीति स्वार्थ की संकुचित दीवारों को तोड़कर 'परहित'' पर केन्द्रित हो जाये और मन के हाथ में ना चलने वाली कठपुतली न रह कर आत्मा या हृदय का नियन्त्रण स्वीकार कर लें, तो शिक्षा का स्तर पुनः ऊंचा उठ जावेगा और मानव पुनः हर्षोल्लास से नाच उठेगा।

तदर्थ प्रवक्ता,

आचार्य नरेन्द्र देव

टीचर्स ट्रेनिंग कालेज,

सीतापुर (उ०प्र०)

बुद्ध और शंकर का साधन मार्ग

डा० विजयपाल शास्त्री
प्रवक्ता दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

भगवान् बुद्ध और आचार्य शंकर इस विशाल विश्व की ऐसी दो असामान्य विभूतियाँ हैं जिन्होंने इसलोक के निखिल ऐश्वर्य और भोग्य सम्पदा को अचिर स्थायी एवं क्षण भगुंर बताकर नित्य ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक आनन्द की प्राप्ति का मार्ग लोक के समक्ष प्रस्तुत किया। दोनों की साधना पद्धतियां महान् समुन्नत और सेव्य हैं। सम्प्रति दोनों में जो भेदक तत्त्व प्रतीत किया जाता है वह है एक का नास्तिक होना और दूसरे का आस्तिक होना, एक का अनात्मवादी होना और दूसरे का विशुद्ध आत्मवादी होना। शंकर को आचार्य शंकर बनाने में बौद्धों ने प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया। बौद्ध दार्शनिकों के तर्क इतने प्रबल तीक्ष्य थे कि उनके समक्ष तत्कालीन आस्तिक दार्शनिक ठहर नहीं पाते थे। तर्क पाटव के बल पर ही—बौद्ध दिग्विजयी कहलाते थे। भारतीय समाज को अनीश्वरवादी होता देख कर और वैदिक धर्म को उच्छिन्न होता देखकर शंकर के पास इस बात के अतिरिक्त और कोई उद्देश्य न था कि बौद्ध धर्म एवं दर्शन का समूल उच्छेद किया जाये। इसके लिये आवश्यक था — बौद्धों के तर्कों की अपेक्षा प्रबलतर तर्कों की प्रभूत राशि। इसीलिये शंकर ने बौद्धों के तर्कों को कुण्ठित करने के लिये अपने तर्कास्त्रों की धारा को और अधिक पैना बनाया। शंकर के तर्क प्रहारों को बौद्ध न सह सके। नास्तिकता के बादल छंट गये। वैदिक सिद्धान्तों की निर्मल ज्योति फिर से जनमानस में जगमागाने लगी। भारत वर्ष में बौद्ध धर्म और उसके दार्शनिक सिद्धान्त समूलशारण विनष्ट हो गये।

आचार्य शंकर का प्रयास निश्चित रूप से सफल रहा, किन्तु इसके साथ ही

एक ऐसी निर्मल और पावन वस्तु भी हमारे हाथ से नष्ट हो गयी जिसका जीवित रहना आवश्यक था। जिस प्रकार किसी अरण्य के झाड़ झंखाड़ों को साफ करते हुए कुछ कल्याणकारी दिव्य औषधियाँ भी अग्नि का ग्रास बन जाती हैं उसी प्रकार शंकर के प्रबल तर्कों के झंझावात की लपेट में आकर बौद्धों के अनीश्वरवाद और अनात्मवाद के साथ ही उनकी निर्मल आचार एवं साधना पद्धति भी केवल कथा के रूप में अवशिष्ट रह गयी। बौद्धों का साधन मार्ग इतना सहनीय पूर्ण एवं कल्याणकारी था कि शंकर भी उससे प्रभावित हुए बिना न रह सके। इसीलिये उन्हें अनेक अवसरों पर प्रच्छन्न बौद्ध होने के आरोप से ग्रस्त होना पड़ा। यहां पर बुद्ध और शंकर की साधना की कतिपय विशेषताओं का विवेचन तुलनात्मक दृष्टि से किया जा रहा है।

अद्वैत तत्त्व के अधिगम के लिये एवं वेदान्त के अध्ययन प्रवेश पाने के लिये जिन आधार भूत आचरणीय तत्वों को साधन-चतुष्टय के रूप में आचार्य शंकर ने उपदिष्ट किया उन्हीं तत्त्वों को बौद्ध दार्शनिक षट् पारमिता के रूप में पहले हा मान्यता दे चुके थे। साधन चतुष्टय के अन्तर्गत आते हैं--नित्यानित्य वस्तु विवेक, इहामुत्रार्थ फल भोग विराग, शमादि षट्क-सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व षट् पारमिताएं हैं–दान, शील, क्षान्ति वीर्य ध्यान एवं प्रज्ञा।

पारमिता शब्द का अर्थ है- पूर्णत्व। इसको पाली में पारमी कहा जाता है। सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त करने के लिये पारमिता का आचरण नितान्त अनिवार्य है। बुद्ध ने इन्हीं पारमिताओं की सहायता से विविध योनियों में शरीर-धारण करके सम्यक् सम्बोधि की लोकोत्तर सम्पत्ति को प्राप्त किया था। जिस प्रकार किसी गन्तव्य स्थान पर पहुंचने के लिए पथिक को सम्बल की आवश्यकता होती हैं वैसे ही बोधि पद के लाभ के लिये साधक को उक्त षट् पारमिताओं का सम्बल अवश्य ही अर्जित करना होता है।

१- दान–

अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु को भी किसी भेदभाव के बिना सब जीवों को दे देना तथा दान फल की कामना न करना दान पारमिता है। कामना पूर्वक किया गया कोई भी कर्म बन्धकारक होता है। अत. निष्काम दान ही दान पारमिता अर्थात् पूर्ण

दान कहलाता है। इस आचरण को शंकर ने इहामुत्रार्थ फल भोग विराग के रूप में स्वीकृत किया है। केवल इहलोक के ही नहीं अपितु पारलौकिक ऐश्वर्यों के भोग से भी साधक को विरत हो जाना चाहिये। त्याग का ही तो दूसरा नाम दान है। शंकराचार्य ने जिसे इहामुत्रार्थ फल भोग विराग कहा है। बुद्ध ने उसे ही दान पारमिता कहा है, कितना अधिक साम्य है।

२- शील पारमिता-

निन्दित कर्मो से चित्त की विरति को बौद्ध दर्शन में शील कहा गया है। इंद्रियों के माध्यम से बाहर निकल कर चित्त की शक्ति का अपव्यय होता रहता हैं जिससे चित्त अशान्त हो जाता है। चित्त को विषयों की ओर से विरत करके आभ्यन्तर की ओर मोड़ने से चित्त में दिव्य शक्तियों का विकास होता है। शान्ति देव कहते हैं—

भूमिं छादयितुं सर्वां कुतश्चर्म भविष्यति ।
उपानच्चर्ममात्रेण छन्ना भवति मेदिनी ॥

अर्थात् पैर की रक्षा के लिये पृथिवी को चमड़े से ढकने की अपेक्षा पैर को ही जूते के चमड़े से ढक देना सही उपाय है। इसी प्रकार संसार के समस्त क्लेशों को दूर करने के लिये केवल चित्त का वशीकरण ही पर्याप्त है। यही शील पारमिता है। आचार्य शंकर ने इसे उपरति नामक सम्पत्ति के रूप में स्वीकार किया है। योग दर्शन में इसे प्रत्याहार नाम के योगाङ्ग के रूप में मान्यता दी गयी है।

विषयों से चित्त को हटाकर परमात्मा में रमण करना उपरति है। शील पारमिता और उपरति दोनों का लक्ष्य एक ही है—चित्त का परिशोधन।

३- क्षान्तिपारमिता-

द्वेष के परिशमन के लिये क्षान्ति का सेवन किया जाता है। क्षमा का अर्थ है सहन शीलता। बौद्ध धर्म में द्वेष से बड़ा कोई पाप नहीं और क्षान्ति से बड़ा कोई तप नहीं होता। शान्ति देव ने शिक्षा समुच्चय में कहा है—

क्षमेत श्रुतमेदेत संश्रयेत वनं ततः ।
समाधानाय युज्येत भावयेद शुभादिकम् ।।

अर्थात् साधक को क्षान्ति का अभ्यास करना चाहिये ।
क्षमाशील व्यक्ति को श्रुतज्ञान की इच्छा करनी चाहिये ।
तदन्तर ज्ञानी को वन का आश्रय लेना चाहिये ।

वन में जाकर चित्त समाधान के लिये योग (समाधि) करें । फिर अशुभ (क्लेशों) की भावना करें।

क्षान्ति द्वेष का नाश करती है। सब पापों का मूल द्वेष ही है। जिस प्रकार दण्ड को छोड़ कर दण्ड प्रेरक पर कोप किया जाता हैं, वैसे ही दुष्ट पर कोप न करके द्वेष से द्वेष करना चाहिये क्योंकि द्वेष ही दुष्ट को प्रेरित करता है ।

शंकर ने इस भावना को तितिक्षा और समाधान की संज्ञा देकर व्यक्त किया हैं। शंकराचार्य की दृष्टि में क्षान्ति की अपेक्षा तितिक्षा अधिक व्यापक है क्योंकि इससे चित्त के साथ ही देह भी कष्ट सहिष्णु एवं बलवान् बनता है। राग द्वेष, मानापमान क्षुत्पिपासन, शीतोष्ण सम्पत्-विपत् आदि द्वन्द्वों को सहन करने का नाम तितिक्षा है। तितिक्षा के अनन्तर ही चित्त समाधि के लिये सक्षम बनता है ।

४- वीर्य पारमिता-

कुशल कर्म में वीर्य का होना उत्साह कहा गया है। क्षान्ति अथवा तितिक्षा से वीर्य का लाभ होता है। वीर्यवान् पुरुष योग में युक्त हो सकता है। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" कहकर श्रुति ने वीर्य की महत्ता को अङ्गीकृत किया है । वीर्य हीन पुरुष संसार के भीषण क्लेशों से अहर्निश तप्त होकर भी कुशल कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। उस मार्ग में बाधाएं देखकर ही वह परास्त हो जाता है। वीर्यवान् के लिये कुछ भी दुष्कर नहीं है। बौद्धों ने वीर्य के अन्तर्गत छन्द स्थान रति और मुक्ति की गणना की है। छन्द का अर्थ है—कुशल कर्यों में इच्छा। आरब्ध कर्मों में दृढ़ता स्थान है। सत् कर्मों में प्रवृत्ति का नाम रति हैं और मुक्ति का अर्थ है- त्याग। इस चतुर्व्यूहात्मक वीर्य के साथ ही साधक को निर्वाण पथ पर अग्रसर होना चाहिये।

आचार्य शंकर के द्वारा उपदिष्ट शमादिषट्क-सम्पत्ति में वीर्य का रहस्य छिपा हुआ है। शंकर ने शम दम तितिक्षा उपरति समाधान और श्रद्धा इन छः तत्त्वों की सम्पत्ति को मोक्ष मार्ग के पथिक के लिये पाथेय बतलाता है। ये छः सम्पत्तियां ही छः बल है जो योगी को सशक्त बनाते हैं। अन्यथा उस कठिन मार्ग पर चलते हुये योगी के पाँव शीघ्र ही लड़ खड़ा जाते हैं औय तब वह उस साधना को मध्य में ही छोड़ कर भाग खड़ा होता है। योग दर्शन में इसे ही ब्रह्मचर्य नाम का यम कहा गया है। यह ब्रह्मखर्य ही निर्वाण-साधक का अवलम्ब है।

५- ध्यान पारमिता-

वीर्य की वृद्धि साधक को समाधि में स्थापित करती है। समाधि क्लेश-निवारण का एक मात्र सर्वश्रेष्ठ उपाय है। दु.खों के विये तथागत ने शमथ और विपश्यना ये दो प्रमुख उपाय बताये हैं। शमथ का अर्थ है ज्ञान और विपश्यना कहते हैं समाधि को। समाधि के लिये शमथ प्रथमता अर्जनीय है। बोधिचर्या में यही बात स्पष्ट घोषित की गयी है—

शमथेन विपश्यनासुयुक्तः कुरुते क्लेशविनाशमित्यवेत्य।
शमथः प्रथमं गवेषणीयः स च लोके निरपेक्षयाऽभिरत्या॥
७/४

समाधि के लिये अरति अर्थात् वैराग्य अनिवार्य है। अरति के बिना समाधि सिद्ध नहीं होगी। "व्यक्ति अकेला ही उत्पन्न हुआ है अकेला ही मरेगा, प्रिय जनों का समागम तो रास्ते में चलते हुए पथिक के लिये विभिन्न स्थानों की सन्निधि के समान है।" यह सोचकर मनुष्य को वैराग्य धारण करना है चाहिये और समाधि के लिए प्रयास करना चाहिये।

इस प्रकार बुद्ध ने निर्वाण के लिए योग अथवा निदिध्यासन का महत्त्व अंगीकार किया है। इसी बात को शंकर ने समाधान कहकर स्वीकार किया है। समाधान का अर्थ भी चित्तैकाग्र्य रूपी समाधि ही है।

६- प्रज्ञा पारमिता-

चित्त की एकाग्रता से प्रज्ञा पारमिता का जन्म होता है जिससे तत्त्वों का

यथाभूत सत्य ज्ञात होता है । इसी प्रज्ञापारमिता को योग दर्शन में ऋतम्भरा प्रज्ञा कहा गया है । भव दुःखों का समूल उन्मूलन प्रज्ञा पारमिता से ही होता है ।

बौद्धों के अनुसार प्रज्ञा से सर्वधर्मशून्यता का ज्ञान होता हैं । नागार्जुन ने कहा है—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावा; क्वचन केचन ।।

अर्थात् संसार के पदार्थ न तो स्वतः उत्पन्न होते हैं न परतः । कुछ स्वतः और कुछ परतः, इस प्रकार उभयथा भी पदार्थ उत्पन्न नहीं होते । बिना हेतु के ही घत्पत्ति मानना तो और भी अधिक असमंजस हैं । इसलिये प्रदार्थों की शून्यता में ही पर्यवसान होता हैं ।

प्रज्ञा पारमिता से इस प्रकार सर्वधर्म शून्यता का ज्ञान हो जाने पर कोई भी व्यवहार शेष नहीं रहता ।

मिथ्या ज्ञान का कारण अविद्या ही है । इस अविद्या से ही मायिक जगत् का व्यवहार चलता हैं जो क्लेशों को उत्पन्न करता है । प्रज्ञा पारमिगा-सूत्र में प्रज्ञा को को माता के समान वत्सला बताया गया हैं जो साधक को सब प्रकार के अनर्थों से दूर रखती है—

सर्वेषामपि वीराणां पदार्थ नियतात्मनाम् ।
साधिका जनयित्री च माता त्वमसिवत्सला ।।
बुद्धैः प्रत्येक बुद्धैश्च भावकैश्च निषेविता ।
मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इतिनिश्चयः ।।

इसीलिये आचार्य शंकर ने अपने साधन चतुष्टय में नित्यानित्य वष्तुविवेक को मोक्ष का प्रथम साधन बताया है । अविद्या था यह विलक्षण सामर्थ्य हैं कि वह नित्य पदार्थों में अनित्य बुद्धि को और अनित्य पदार्थों में नित्य बुद्धि को उत्पन्न कर देती है और तब यहीं से अनर्थ की परम्परा का प्रारम्भ हो जाता है अतः आत्मा को नित्यत्वेन गृहीत करना तथा आत्म-भिन्न देहादि जगत् को अनित्य समझना मोक्ष का प्रमुख द्वार हैं ।

इस प्रकार हमने देखा कि जिस आचार संहिता को भगवान् बुद्ध ने प्रज्ञा पारमिता के रूप में उपदिष्ट किया था उसी को आचार्य शंकर ने साधन चतुष्टय के रूप में प्रचारित किया। बुद्ध का साधन मार्ग शंकर मार्ग से किसी भी प्रकार हीन नहीं है अपितु उससे भी अधिक मनोरम एवं कल्याण साधक है। "सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते।"

इस न्याय को दृष्टि में रखते हुए बौद्ध आचार मीमाँसा की सर्वात्मना उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। ऐसी उत्कृष्ट साधना सरणि का लुप्त हो जाना सचमुच दौर्भाग्य की बात है। बुद्ध के बुद्धत्व को विज्ञ पुरुष मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं।

वैदिक समाज संरचना

डा० जयदेव वेदालंकार

मानव, मानव के प्रति कितना क्रूर हो जाता है कि वह मानवता को भूल कर एक को श्रेष्ठ अथवा एक को नीच तथा त्याज्य समझने लगता है। आइये अब हम वैदिक युग में प्रवेश करें, जिस समय सामाजिक वर्गीकरण का प्रारम्भ हुआ ही होगा। भारतीय वैदिक साहित्य में जाति शब्द और उससे समझा जाने वाला अभिप्राय नहीं मिलता है। उस समय के साहित्य में वर्ण शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। उस समय समाज को—वर्ण और आश्रम—इन दो रूपों में विभाजित किया था। वर्ण चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र। चार आश्रम है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। उस समय के ऋषियों ने एक आदर्श और वर्गहीन समाज की स्थापना की थी। वर्ण-रचना और विभाजन को हम संक्षिप्त रूप में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं।

यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय में ईश्वर को मूर्त रूप देकर समझाते हुये कहा है कि ब्राह्मण, उसका मुख है, क्षत्रिय उसको भुजायें है, पेट उसका वैश्य है और पैर उसके शुद्र हैं—

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीत् बाहूराजन्यकृतः।
उरुतदस्य वैश्य पद्भ्याशूद्रोऽजायत।

इस उदाहरण में ऊंच और नीच की भावना की कल्पना भी नहीं है। अध्यापक मुख से छात्रों को शिक्षा देता है इसीलिए उस अध्यापक को ब्राह्मण कहा है। हाँ, कोई हमारे अज्ञान को दूर करता है तो उसके प्रति श्रद्धा का होना स्वाभाविक बात है। इसी प्रकार जो रक्षा करता है, वह क्षत्रिय है, जो कृषि और व्यापार करके देश में धनाभाव को दूर करता है और हरित क्रान्ति के द्वारा देश को समृद्धिशाली बनाता है उसे वैश्य नाम दिया गया है। इसी प्रकार जो ग्रन्थ अधिक न पढ़कर केवल समाज को स्वस्थ एवं ठीक रखने वाला वर्ग है, उसे तकनीकी भाषा शूद्र शब्द से अभिषिक्त किया है। यहां यह कहना उचित होगा कि शूद्र शब्द कहते ही हमारे मन में जो भाव मूर्तरूप में आज उत्पन्न होता है वह वैदिक कालीन समाज में नहीं होता था। शूद्र शब्द के अर्थ का अपकर्ष होकर ऐसा रूढ़ अर्थ हो गया है कि वह निन्दित समझा जाने लगा है। मैं यहां पर यह बात जोर देकर और स्पष्ट रूप में कहना

चाहूंगा कि उपर्युक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों शब्द वैदिक कालीन समाज में शुद्ध तकनीकी अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं जैसे कि आज विज्ञान के शब्द तकनीकी रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं। इसीलिये द ने स्वयं वेअपने ज्ञान को सभो वर्गो के लोगों लिये प्रयुक्त किया है। यजुर्वेद में कहा हैं कि यह मेरी कल्याणी वाणी किसी वर्ग विशेष के लिये नहीं है अपितु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और जन जातियों के लिये समान रूप में है। जैसे सभी वर्गों के शरीर में रक्त समान रूप में प्रवाहित होता है वायु समान रूप में सबके लिये बहता है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय च आर्याय व स्वस्थ चार्णाय ॥
—यजु० ३२

इसीलिये स्मृतिकारों ने कहा कि जन्म से सभौ शूद्र उत्पन्न है—

जन्मनाशूद्रों जायत । संस्काराद् द्विज उच्यते ।

जब बच्चा उत्पन्न होता है तो अज्ञानी ही उत्पन्न होता है। संस्कार अर्थात् शिक्षा देने के बाद वह ज्ञानी बनता है। इसका मतलब यह है कि जन्म से न कोई ब्राह्मण है, न क्षत्रिय, और न ही वैश्य—सभी शूद्र ही उत्पन्न है। इसीलिये ही महर्षि दयानन्द ने अपने सत्यार्थप्रकाश में कहा है कि जन्म में कोई अछूत या शूद्र नहीं है अपितु जो छात्र बार-बार प्रथम श्रेणी में ही अनुत्तीर्ण रहे वह बार-बार प्रयास करने पर भी न पढ़ सके अज्ञानी ही बना रहे, वह सेवा तो कर ही सकता है, उसे शूद्र कहेंगे—यहां पर भी शूद्र का मतलब नीच या अछूत नहीं अपितु एक स्तर का द्योतक हैं।

वैदिक-साहित्य और शास्त्र-साहित्य में इस प्रकार प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। जैसा कि मनुस्मृति में यह स्पष्ट मिलता है कि शूद्र ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है और ब्राह्मण घर में उत्पन्न बालक या व्यक्ति शूद्रता को प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य भी किसी भी वर्ण के गुणों को धारण करके किसी भी वर्ण के हो सकते हैं—

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षात्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैनयात्तयेव च ॥ —मनु०

इसी भाव को आपस्तम्ब सूत्र में भी कहा है कि धर्मानुष्ठान अर्थात् कर्मों से पूर्ण वर्ण को छोड़ कर श्रेष्ठ अर्थात् दूसरे व अच्छे वर्ण को प्राप्त हो सकते हैं। तथा अधर्म के आचरण से श्रेष्ठ वर्ण को छोड़ निम्न वर्ण को प्राप्त होता है। अतः महाभारत में भी यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि अपने कर्तव्यों से हीन ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त करता है और एक शूद्र अपने व्रतों को धारण करके ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है।

ब्राह्मणोक्रियाहीनः शूद्रादप्यवशे भवेत्।
शूद्रोऽपिव्रत संयुक्तो ब्राह्मणः स युधिष्ठिर ॥ —महाभारत

वर्णों का विभाजन :

उपनिषद्-काल में छात्रों का पढ़ना राजनियम था। उस समय स्नातक बनने तक आचार्य किसी भी छात्र का वर्ण निश्चित नहीं करता था। वह वर्ण निश्चित करने से पूर्व उनके गुण, कर्म और स्वभाव की परीक्षा लेता था। उसके यह जांचने के अनेक उपाय थे। उनमें सबसे प्रसिद्ध उपाय यह था कि आचार्य कहता कि एक प्रान्त में अज्ञान फैला हुआ है वहां पर जाकर विद्या को फैलाना है। ऐसा करने में प्राण भी जा सकते हैं। तुम में से कौन ज्ञान को फैलाने का व्रत लेता है। —जो स्नातक उसका व्रत लेते थे, उन्हें ब्राह्मण वर्ण से विभूषित किया जाता था। आचार्य फिर एक दूसरे प्रकार से स्थिति की कल्पना का चित्र छात्रों के सम्मुख रखते थे। एक अन्य प्रान्त में अत्याचार फैले हुये हैं, निर्धन और निर्बल लोगों को सताया जाता है, उनमें जाकर, उनकी रक्षा का भार का व्रत कौन-कौन छात्र लेते है? जो छात्र देश की रक्षा और अत्याचारों से पीड़ित लोगों की रक्षा का व्रत लेते थे, उन्हें क्षत्रिय वर्ण दे दिया जाता था। उसके बाद आचार्य तीसरी स्थिति को बताते थे कि कहीं पर लोगों में भूखमरी है, और धन का अत्यन्ताभाव है—कौन स्नातक वहां जाकर कृषि, व्यापार और वाणिज्य द्वारा वहाँ निर्धनता तथा भूखमरी आदि की समस्या को दूर करने का व्रत लेते हैं? जो यह व्रत लेते थे, उन्हें वैश्य वर्ण प्रदान किया जाता था। इसके अनन्तर आचार्य छात्रों को एक चौथी प्रकार की अवस्था का चित्रण उपस्थित करते थे कि एक स्थान पर वहुत गन्दगी है, स्वच्छता की आवश्यकता है, सेवा करना अपेक्षित है। जो स्नातक छात्र सेवा का व्रत लेते थे, उन्हें शूद्र वर्ण दिया जाता थ।

महर्षि दयानन्द तो समाज संरचना के सम्बन्ध में आदर्शवादी समाज की संरचना का चित्र खींचते हुये कहते हैं कि जिस वर्ण के माता-पिता हों, उसी वर्ण का

स्नातक पुत्र रूप में उसे देना चाहिये। यदि माता-पिता ब्राह्मण वर्ण के हैं और उनके पुत्र को वैश्य वर्ण मिला हो तो, वह पुत्र वैश्य वर्ण के माता-पिता को पुत्र रूप में सौंपा जाये।

आदर्शवादी और इस वैज्ञानिक सामाजिक संरचना की व्यवस्था कालान्तर में अनेकों युगों के अन्तराल से गुजरती हुई केवल आज उपदेश और इतिहास की वस्तु प्रतीत होती है। कालप्रवाह के साथ जातिपाति का भयंकर रूढ़िवादी रोग सैकड़ों जातियों के रूप में विकराल रूप धारण करके भारतीय जनमानस की बुद्धि को कुण्ठित-सा कर रहा है। इस रोग से बचने के लिये अन्तर्जातीय विवाह तथा अनेक उपाय बतलाये जा रहे है। जातिपाति के विष का समूल विनाश कैसे किया जाये इसका कोई कारगर उपाय नहीं सूझ पा रहा है। इसको दूर करने के लिये स्वामी विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द, कबीर, नानक आदि अनेक समाज सुधारक भारत भूमि पर अपने-अपने युग में उत्पन्न हुये और उनके हजारों एवं लाखों शिष्य भी बने हैं, परन्तु जातिपाति का आम शाप और भयंकर होता गया यदि आज भी कोई अन्तर्जातीय विवाह सुधारवादी मिशनरी भावना से ओतप्रोत होकर हरिजन या पिछड़ा जातियों की लड़की से कर लेता है तो जीवन भर उसे शूद्र का नाम देखने को नहीं मिलता हैं। इतना ही नहीं २० वर्ष तक भी उस सवर्ण पांत के साथ रहने हुए भी वह परिवार की दृष्टि में नीच ही बना रहता है। आज के वैज्ञानिक युग में इससे भयंकर कोई पाप नहीं हो सकता है।

जातिपाति की इस भयंकर बिमारी से बचने के लिए वर्ग हीन समाज की संरचना का सुन्दर विचार आधुनिक जागरूक चेतना में बहुत ही अधिक सम्मान पाता है। प्रश्न फिर वही उपस्थित होता है कि वर्गहीन समाज की स्थापना कैसे हो कि जातिपाति का भयंकर रोग समाप्त हो सके। सरकार कानून द्वारा अध्यादेशों द्वारा या साम्यवादी सख्ती के साथ ऐसा कर सकता है? इसका उत्तर एक ही है कि नहीं। क्योंकि वोट की राजनीति में यह सम्भव नहीं हो सकता है। इस विषय में मेरा निष्कर्ष यह है कि सरकार समाजवादी तरींके से इस समस्या का समाधान कर सकता हैं वह समाधान है शिक्षा का आमूलचूल परिवर्तन। यह परिवर्तन इस प्रकार होगा कि जब भी बच्चा उत्पन्न होगा चार या पांच की अवस्था में यह आवश्यक राजनियम बनाया जाये कि वह बच्चा राष्ट्र की सम्पत्ति हो। उसकी शिक्षा का पूर्ण

दायित्व माता-पिता का नहीं है, अपितु, राज्य का होगा समस्त राष्ट्र के बच्चों को शिक्षणालयों के बोर्डिंग में रखा जाये। समान वस्त्र, समान शिक्षा, आवश्यक रूप में होगी। जैसेकि गुरुकुल शिक्षा में प्राचीन काल में सन्दीपन मुनि के आश्रम में राजा का पुत्र कृष्ण और निर्धन सुदामा सहपाठी थे। उन शिक्षणालयों में चाहे किसी करोड़ पति का बालक हो या निर्धन का तथा प्रधान मन्त्री का पुत्र हो सभी को साथ रख कर समान सभी वस्तुयें प्रदान की जायें। यह क्रान्तिकारी कदम हमारी सरकार भारतीय संविधान में परिवर्तन करके कर सकता है। इन शिक्षणालयों में पढ़ने वाले छात्र-छात्रायें दूसरी पीढ़ी में जातिपाति के भयंकर रोग से पूर्णरूप में मुक्त होंगे। प्रधान मंत्री यदि इस समस्या के प्रति गम्भीर हों तो यह परिवर्तन वे करें। इस समस्या के समाधान में सबसे बड़ी बाधा धन और राजनेताओं का अहं हो सकता है। प्रथम समस्या का समाधान प्रत्येक परिवार की आर्थिक आय पर शिक्षा कर लगाया जाये। जब पारिवारिक बच्चों का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सरकार पर होगा तो उसकी आर्थिक जिम्मेवारी नहीं के बराबर ही तो होगी। मानलीजिये एक परिवार के तीन बच्चे हैं, उस परिवार की मासिक आय दस हजार रुपये हैं। उसके तीनों बच्चों का सम्पूर्ण दायित्व सरकार पर है हो तो उस परिवार पर तीन हजार रुपये मासिक शिक्षा कर लगाया जा सकता है। इस तरह आर्थिक समस्या समाप्त हो जायेगी। जो गरीबी रेखा के नीचे के लोग हैं, उन पर उनकी आमदनी के अनुसार शिक्षा कर कम लगाया जा सकता है। इस नियम का पालन सरकार कठोरता से करा सकती हैं। जब समस्त वर्गों के बच्चे बिना किसी ऊंच नीच के साथ-साथ पढ़ेंगे तो जातिपाति विष अमृत में बदल जायेगा। यह शिक्षा साम्यवादी ढांचे में न होकर गुरुकुलों को आश्रम प्रणाली के द्वारा भारतीय धर्म और मूल्यों के साथ दी जानी चाहिये। हमें भारतीय धरोहर और संस्कृति को समाप्त नहीं करना है अपितु उसकी विकृति को दूर करके, उसके तकनीकी रूप को उजागर करना अपेक्षित हैं।

स्वतन्त्रता के साथ हरिजन और पिछड़ी जातियों के उत्थान के लिये आरक्षण प्रारम्भ हुआ था : यदि शिक्षा में आमूल-चूल परिवर्तन उपर्युक्त प्रकार किया जाये तो आरक्षण की बहस अपने आप समाप्त हो जायेगी। इसकी आवश्यकता ही नहीं रहेगी सभी बच्चों को समान अवसर अध्ययन और रोजगार के होंगे तो आरक्षण की आवश्यकता स्वतः समाप्त हो जायेगी।

परन्तु जब तक यह व्यवस्था न हो तब तक आरक्षण का महत्त्व है। इसे किसी न किसी अवस्था में बने रहना चाहिये। लगभग तीन वर्ष से देश में एक जोरदार बहस छिड़ी हुई हैं कि आरक्षण का जातिपरक दृष्टिकोण समाप्त करके उसे शुद्ध आर्थिक अवस्था पर अवलम्बित किया जाये। जो भी गरीबी रेखा के नीचे हैं वह किसी भी जातिका होगा, उसके बच्चों को आरक्षण का लाभ मिलना चाहिये। इस विषय में यह भी दृष्ठिकोण प्रस्तुत किया जा रहा है। वह पढ़कर थता अच्छे-अच्छे पदों पर सर्विस करता हुआ सदा के लिये नीची जाति में क्यों माना जाये। इससे अच्छा तो उसको कार्य के आधार पर वर्ण परिवर्तन करना अधिक श्रेष्ठ कर होगा। यह वर्ण परिवर्तन का अधिकार केवल पिछड़ी जातियों को ही न हो अपितु गरीबी रेखा के नीचे के समस्त वर्गों को दिया जाना चाहिये इससे सामन्जस्य स्थापित हो सकता है। इस समस्या पर निष्कर्ष रूप में समाधान हेतु मेरा मत है कि इस आरक्षण समस्या का समाधान का लाभ प्राप्त करके अपने स्तरको उठा चुके हैं, उनकी आरक्षण की सुविधा अध्यादेश द्वारा समाप्त कर दी जाये। इन जातियों के उन लोगों को सुविधा दी जाये, जिनको इसका लाभ न मिला हो। कुछ प्रतिशत सवर्ण कहे जाने वाले उन लोगों को भी आरक्षण का लाभ मिलना अपेक्षित एवं आवश्यक हैं जो लाखों परिवार गरीबी रेखा के नीचे हैं जो लोग पिछड़ी जातियों के मन्त्री, अन्य उच्चपदों पर आई०ए०एस० आदि हैं उन परिवार को आरक्षण का लाभ देना गरीबों के प्रति स्पष्ट घोर अन्याय है, तथा बुद्धिहीन और तर्कहीन भी हैं। अतः आरक्षण की सुविधा को दो भागों में विभाजित करना तर्कसंगत और औचित्यपूर्ण है।

प्रत्ययेषु शब्दानुगमः

—डा० बलजिन्नाथपण्डितस्य

उक्तं हि वाक्यपदीये भर्तृहरिणा—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन दृश्यते ॥ इति ॥
वा० प० १—१२३)

अत्र प्रत्ययपदार्थस्पार्थो ज्ञानम् । तच्च द्विविधं, लोकव्यावहारिकं योगजानुभूतिरूपं चेति । लोकव्यवहारेऽपि ज्ञानं द्विप्रकारकं, निर्विकल्पं सविकल्पं चेति । तस्य सर्वस्यापि शब्दानुविद्धत्वमिति हरेरभिप्रायः । लोकव्यवहारे च ज्ञानं शाब्देनाकारेणानगतमेव तत एव लोके शब्दोऽर्थो ज्ञानं चेति त्रयमपि सममेव चकास्ति ।

जाग्रति स्वप्नेच निर्विलकप सविकल्पतया ज्ञानस्य द्वैविध्यं स्फुटमेव। तत्र सविकल्पकं यज्ज्ञानं तत् सङ्केत सहकृतेन निश्चितेन विशिष्टेन शाब्देनाकारेणानुविद्धमेव—घटोऽयं, नीलमिदं, सुखमिदं, बुभुक्षेयमित्यादिरूपत्वात् । एतयोरवस्थयोर्विजृम्भमानं यन्निर्विकल्पकं ज्ञानं तत्र यद्यपि निश्चितस्य विशेषात्मकस्य विशेष सङ्केतसहकृतस्य च शाब्दस्याकारस्य नानुवेधः कस्यादि, तथापि तत्र सामान्याकारस्येदन्तादिप्रतिपादकस्य शाब्दस्याभासस्य विद्यत एवानुप्रवेशो येन अस्तीदं किञ्चिदित्युच्यते । चेन्नभाविष्यदत्र शब्दानुप्रवेशस्तदा न्निदमाकस्यापि शब्दस्य प्रयोग कर्तुं नाशक्ष्यते। ज्ञानस्यान्तरपि चात्र सामान्य विषयाकारष्य प्रतिभासो वर्तत एव यद्यपि नासौ स्फुटः। यदेव प्रमातुः सकाशाद मेदेनावभात ज्ञानेऽत्र तदेवोच्यते वाचा 'अस्ति क्रिञ्चिदिति ।"

सौषुप्ते चापि प्रत्यये वर्तत एवात्यन्तमस्फुटः शब्दानुवेधः तथा हि—सुषुप्त्युत्तरकालिकेनावबोधेनानुमातुं शक्यं यद् सौषुप्तं नील सुखाद्य भाव प्रतिपादकं ज्ञानं,

तदपि तेनैवानुमान प्रमाणेन शब्द्या कल्पनयानुविद्धमेवेति साधयितुं शक्यम् । चेन्नाभविष्यच्छब्बानुयिद्धं, तर्हि तस्य स्मृतिरपि शब्दानुवेधरहितैवाभविष्यत् । स्मृतिर्हि संस्कारजन्या, संस्कारश्चानुभूतिजन्यः सन्ननुभूति सदृशीमेव स्मृतिं जनयति । ततः सुखाद्यभावज्ञानरूपायाः स्मृतेस्तथाविधशब्दानुविद्धायाः मूलभूतोऽनुभवोऽपि जथ। विधाभाव प्रतिपादकशाब्द कारानुगत एवेति सिद्धत्तति ।

योगजानुभूतिजन्यं यत्तुर्यदशोचितं च ज्ञानं तत्र कथं शब्दानुगम इति वर्तते विचिकित्सा वाचकादीनांशब्दानां योऽनुप्रवेश्ये ज्ञाने स तु भेदात्मिकायां मायादशायामेव सम्भवति न शुद्धविद्यात्मिकायां योगजानुभूतौं । तुर्या दशा तदतीतं च परं पदमुभयमपि मायातीतम् । तत्र कथं शब्दानुवेघ इति विचारणीयं वर्तते ।

अत्र तावत् काश्मीरशैवदर्शनदृशा किञ्चिद् विचार्यते यत्रावधातव्यं सुधीभिः । तद्यथा —मूलतो हि शब्दनं न प्राणवाय्वाघातजन्यवैखरीध्वनिमयम्, अपि तु संविद्विमर्शमयमेव । यदेव हि विमश्यते चिद्रपेणात्मना तदेव विचार्यते ऽध्यवसीयते च मध्यमया वाचा तस्य चित्तेन । यदेव च विचार्यते चित्तेन तदेवोच्यते वैखर्या वाचा परं बोधयितम् । बैखर्या वचनं हि ध्वन्यात्मकशब्दमयम् । मध्यमाया यदध्यवसायात्मकं शब्दनं तत्तावद्बौद्धं शब्दाकारविमर्शनम् । उभयं चेदं संकेतसहकृतम् । परं मूलविमर्शनं यत्संविदा क्रियते, तत्तु यस्याः स्वरूपभूतमेव । संवित्ता यत् प्रकाशते स्वेनैव स्वभावभूतेन चित्प्रकाशेनाहमिति । न केवलं प्रकाशत एव, अपि तु स्वात्मानं विमृशत्यपि "अहम्" इति । तत एव मूढोऽपि नातोऽप्युन्मत्तोऽपि सुषुप्तोऽप्यात्मनः सत्तां प्रति न कदापि विचिकित्सते; निश्चयतः स्वात्मानं विजानाति सदाऽहमिति तत एव स्वात्मनः सत्ताया अभावं कथमपि न कदापि न सहते । अहमस्मि न सहते । अहमस्मि न तु नास्मीति प्रतिपद्यते प्रतिपादयति च सनिश्चयम् । तुर्यायाँ तदतीते च परे पदे संविद्रूह आत्मा स्वेनैव प्रकाशेन प्रकाशते विनाप्यन्तः करणादिसाचिव्यम्, स्वकीवेनैव च विमर्शेन स्वात्मानं विमृशत्यहमिति सर्वथापि विकल्पस्पर्शश ङ्कातङ्कसङ्कोचहीनमेव तत्रत्यमहमिति विमर्शनम् । विकल्पो हि बुद्धिकृता नामरूपाकारकल्पना बुद्ध यतीत शुद्धे संवित्स्वरूप आत्मनि कथमसौ सम्भवेत् । न चासौ स्वात्मानं न विमृशतीति मन्तव्यम्, विमर्शस्यैव प्रकाशप्राणभूतत्वाद विमर्शराहित्ये च तस्याप्रकाशत्वात् । उक्तं हीश्वरप्रत्यभिज्ञायामुत्पलदेवमहोदयैः—

स्वभावमगभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ।।इति।।

(ई.प्र. १-५-११)

जाग्रत्स्वप्नव्यवहारेऽपि यदेव संविदा विमृश्यते परया, पश्यन्त्या वा वाच तदेव विचार्यते चित्तेन मध्यमया वाचा । यदेव च तेन मध्यमया विचार्यते तदेवोच्यते वागिन्द्रियेण वैखर्या परं बोधयितुम् । ततो वैखर्याख्यस्य मध्यमाख्यस्य च शब्दन व्यापारस्य मूलभूतं परापश्यन्तीवाग् विमर्शनम् । सर्वथा मूलभूतं यत्संविद्विमर्शनं तत् "अहम्" इति प्रमातृतत्त्वस्यैव । अहमित्येवम्भूतविमर्शभित्तावेव विकाससमुपयाति तावद् "इदम्" इति प्रमेयांशविमर्शनम् । तुर्या दशा तावद् भेदाभेदात्मकविमर्शमयी शुद्धविद्याख्या सादाशिवी दशा । उक्तंहीमामधिकृत्य श्रीसोमानन्दनाथैः शिवदृष्टौ—

अथास्माकं ज्ञानशक्तिर्या सदाशिवरूपता ।

वैयाकरणसाधूनां पश्यन्ती सा परा स्थितिः ॥ (शि.दृ. २-१)

अस्यां दशायाँ शुद्धः प्रमाता विश्वावभासखचितं स्वात्मानं भेदाभेदमय्या दृशा विमृशति तावद् "अहमिदन्" इति । एवं विमृशन्ती तस्य वाणी तावद् इदमिति प्रमेयांशं ज्ञायमानमेव तथा विमृशति, अज्ञायमानस्र तथा विमर्शनस्याशक्यत्वात् । ततो लक्षणयोच्यते यदसौ वाणी प्रमेयांशं पश्यति, जानातीति तत एवास्याः समाख्या "पश्यन्ती" इति । परं नात्र पश्यन्त्याख्ये विमर्शे प्रमेयांशस्य प्रमातुश्च परस्परं कापि क्रमिका स्थितिः, न चापि क्रियाकारकादीनां पदपदार्थयोरपि वा । सर्वं ह्यय बिम्बप्रतिबिम्बवत् सममेव चकास्ति । प्रमेयांशप्रविबिम्बखचितश्च प्रमाता स्वात्मानमेव विमृशत्यहमिदमिति भेदाभेददशा । एतस्य विमर्शस्य परं प्रति प्रतिपादनस्यैवावसरे तावदहमिदंपदयोः तावदहमिदंपदयोः क्रमिकत्वं, नानुभूत्यवसरे साक्षात्कारात्मके ज्ञाने । स्फुटा तु क्रमिका स्थितिः स्वप्नजागरयोरेव दशयोः सम्भवति । ततस्तुर्यदशोचिता पश्यन्ती वागक्रमेत्यङ्गीक्रियते । यथाविधयाऽक्रमया वाचानुगतं सर्वं तत्रत्यं ज्ञानम् । सा च वागित्थं भेदाअदात्मकस्वात्मविर्शनस्वरूपशब्दनस्वभावा सती सब्दतत्त्वानुगतेति मन्तव्यम् । तत एवास्यां वाचि सममेवाहम इदमश्च सामानाधिकरण्येनावभासः । स एव हि विमर्शात्मक शब्दयस्वभावः ।

तुर्यदशाया यत् समुच्चतमं सोपानं तत्र प्रमेयांशः प्रमातृस्वरूपमध्ये तथैकीभावने तिष्ठति तथा तस्य नाम्नाऽप्याभासो न भवति । तस्मिन पदे केवलं शुद्धस्यासीम्नोऽकालकलितस्य सकलपदपदार्थैक्यात्मकस्य भेदेन लेशमात्रतोऽप्यस्पृष्टस्य परिपूर्णस्यानन्दघनस्यानन्दोर्मिव्रावोद्वेलितस्येव चित्स्वरूपस्य केवलस्य स्वकीय एव प्रकाशः प्रकाशते "अहम" इति । तत्राखिलमपि प्रमेयजातं प्रमातृचित्स्वरूपे तथा विलीनं सत्तिष्ठति यथा तस्य नामापि न परिस्फुरति । तस्यास्तथाविधायास्तुर्यचितो या पारमेश्वरी शक्तिस्तद्रूपेणैव

तत्र विश्वमास्ते । तस्याः शक्तेर्विलासक्रीडयैव च प्रतिबिम्बन्यायेन "अहमिदम्" इति भेदाभेदरूपतया, "अहमहम् इदमिदम्" इति च भेदरूपतया भासते क्रमेण शुद्धविद्यायां मायायां च । तस्या विद्यायाः मायायाश्च योऽवभासः सोऽपि प्रतिबिम्बकक्ष्पतयैव, न परिणामनीत्या सांख्यादीनामिव, न चापि विवर्त्तनीत्या शङ्करानुयायिनामिव, न चाप्यारम्भनीत्या वैशेषिकाणामिव । योऽसौ विश्वावभासनशक्तिपरिपूर्णोऽपि सर्वथा प्रमेयतावभासशून्यो विमर्शोऽहमिति स एव परावाग्रूपः यस्तत्राहमिति प्रकाशो नासो निर्विमर्शः निर्विमर्शस्य प्रकाशस्याऽप्रकाशकल्पत्वात् । तदसौ स्वात्मविमर्शनमयः । तथा विधेनाहमिति प्रत्नवमर्शाख्येन विमर्शात्मकेन शब्देनात्र स्वात्मप्रत्ययोऽनुविद्ध एव, नाननुविद्धः । अहमिति स्वात्मविमर्शनभित्तावेव सर्व प्रमेयप्रमाणादिविमर्शनं विकसति । ततः सकलस्यापि प्रत्यग्ररूपस्य ज्ञानस्य प्राणस्थानीयं तत्त्वं तु मूलतः स्वात्मविमर्शनमेव । तच्च परं स्वाप्मविमर्शनं स्वस्वभावभूतपारमेश्वरशक्तिविमर्शनम् । तदेवानन्दोर्मिनिर्भरत्वं परावाग्रूपायाश्चितः आनन्दोर्म्युच्छलनत एव तुर्यदशाया निम्नानां सोपानानां सुषुप्तिस्वप्नजाग्रतां चोदयः प्रनिबिम्बकल्पतया भवति । पराया एतस्यास्तुर्यचित एव विषये प्रतिपादितमाचार्योत्पलदेवमहोदयैरीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्—

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदया परमेष्ठिनः ॥
(ई.प्र. १-५-१३, १४)

ततः स्पष्टमेवेदं निर्विवादं यत्तुर्याख्यायां दशायां तुर्यातीये चापि परे पदे यत् हरिपूणाहंविमर्शात्मकं ज्ञानं तच्छब्देन परिपूर्णेन च स्वात्मविमर्शनाख्येनाभेदप्रत्यववर्शरूपेण शब्दनव्यापारेणानुविद्धमेव, शब्देन च तथाविधेनानुगतमेवेति नात्र शङ्कावसरः । इमां मूलभूतां विमर्शात्मिकां वाग्रूपतामेवाधिकृत्य प्रोक्तं भर्तृहरिणा—

वाग्रूपता चेदुत्क्रोमेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाश; प्रकाशेत सा हिं प्रत्यमर्शिनो ॥ इति (वा.प. १-१२४)

—०—

जीवने वनस्पतीनामुपयोगिता

डा० विनोद प्रकाश-उपाध्यायः, आयुर्वेदाचार्यः, प्रवक्ता-राजकीय आयुर्वेदिक कालेज, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार।

मनुष्यो यदपि कार्यं करोति तन्मूले किमपि रहस्यं भवति। मानवजीवनस्यास्य परममुद्देश्यं धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राप्तिर्भवति। तदर्थं च स्वस्थ जीवनं परमावश्यकम। तदुक्तं चरकै—

'धर्मार्थ काम मोक्षाणांमारोग्यं मूलमुत्तमम्।
रोगास्तस्यापहर्तारः श्रेयसो जीवितस्य च॥ इति॥

पूर्ण स्वास्थ्याय वयमादिकालादेव वनरितिष्वाधारिताः। पश्चाच्च जान्तवानां पार्थिवानांच द्रव्याणां समावेशास्मिनसंजातः। अनेनैव कारणेन वनस्पतोन्पवित्रान्मत्वा प्राचीनकालादेव तेषा पूजा भवति। उक्तं च—

''याऔषधोः पूर्वाजाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनैनु बभ्रणामदं शतं धामानि सप्त च॥इति॥—ऋग० १०/९७/१

वेदोष्वायुर्वेद :

अर्थात या औषधादेवेभ्यस्त्रियुगपूर्वं पुरातन कालेसमुत्पन्ना : अहं जानामि तासांवभ्रवर्णानामौषधीनामेकशतमर्थानिनेकानि नामानि जन्मस्थानानि च सन्ति।

मनुष्याणां जीवने आहारे औषधे तथा वासे व्यावहारिकोपयोगहेतवे वायमण्डलस्य शुद्धौ। पर्यावरणप्रदूषणनिवारेणे ऋतुनां यथाविधिस्थिर करोणे जलवृद्धिनिवारणे श्रृंगारप्रसाधनानां निर्माणे धार्मिककृत्येषु आर्थिक लाभेषु विभिन्न दैनिक प्रयोगेषु वनस्पतयः प्रयुक्ता भवन्ति।

यज्ञेषु होत्रेस्वधनेषु वस्त्रेषु च कुत्र नेवनस्पितीनां प्रयोग : ? यदि वनस्पितियो

न भवेयु. तर्हि मानवजीवनमपि न स्यात् मूलतो वयमावश्यकतासु वनस्पतिष्वेवाधारिता:। परलोकेषणादैतोर्यज्ञादिष्वेतेषां प्रयोग% क्रियन्ते । अतएवैतै वनस्पतय: इहलौकिकस्य पारलौकिकस्य च सुखस्य दातार: ।

सोमस्य लक्ष्मणाया: संजहविन्या: कण्र्यारुद्राक्षाणां कल्पवृक्षस्य च सन्दर्भो प्राचीनसाहित्ये यत्र-तत्र प्राप्य ते । तुलसी–पिप्पल, वट, गुड़हल, कुश, हरिद्रा, कर्णिकारादयेर्दैनिपूजासु प्रयुज्यन्ते । काश्चिद्वृक्षौश्चावसरविशेष पूजयन्ति च । सकलं चेदं परलोकेषणार्थमेव क्रियते । अफ्की देशस्थ अदे सोनिया-वृक्षात्दुग्धं वस्त्रायं सूत्रं छायार्थ च पत्रं भोजनाय व फलम् एतत्सर्वं प्राप्यते । केनचिद्विद्वषा (स्व० श्री के०एन०वैद; देहरादून तु वृक्षेष्वनेने कल्पवृक्षेण सामान्जस्य स्थापितं । चीनदेशस्थ गिनसेंगसदृशो बहुमूल्यो वृक्षोन्नापर: ।

आधुनिकै रसायनैर्निर्मितानिक्रत्रिमाण्यौषधानिहानिप्रदानि सिध्यन्ति । अस्माकं शरीरं वनस्पतीनामिव प्रकृतेरंगम् । अतएव कृत्रिमौषधानां तुलनायां वानस्पतिकान्यौषधान्यस्माकं शरीरेणाधिक स्वीकायाणि । अद्यत्वे सम्पूर्णे-पि जगति वानस्पतिकौषधानां प्रयोगोतितरां वर्धते । निखिलमिपि जगत् स्वास्थ्यसंवधिसमस्यानां समाधानामायुर्वेदप्रति परमया निष्ठया पश्यति । परिस्थितावस्यामायुर्वेदज्ञानां शुद्धरूपेण चिकित्साज्ञानस्य बहुजन हिताय बहुजन सुखाय च दृदर्शनं कर्तुमुत्तरदायित्वं वद्धते ।

"शिक्षा–समीक्षा"

(डा० निगम शर्मा, रीडर-संस्कृत विभाग, गु०का० विश्वविद्यालय)

१- वन्दे गिरं वेदमयीमभीष्टां शिक्षा-समीक्षा समुदेति यस्या: ।
यस्या: कृपातो गहनेऽप्यशक्ता गावो नदे नाव इवातरन्ति ॥

२- पूर्वं गुरूणां कुलमेवमिद्धं निर्मातुमासीद् दृढ़तां जनेषु ।
श्रीरामकृष्णादि महानुभावास्तेजोदयाधर्म गुणै र्व्यराजन् ।:

३- ब्रह्म प्रशस्तं च विभावयन्त: शस्त्रं च शास्त्रं हृदये धरन्त: ।
गर्वं सदा चक्रुरिहैव सन्तो वने वसन्तस्तपसा लसन्त: ॥

४- सं कामयन्ते शुभमिन्द्रियाणां समुद्रगम्भीरधना युवान: ।
शान्ता: प्रसन्न: शुचयो वदान्या मान्या: कृतज्ञा: प्रभवन्ति यस्मात् ॥

५- वियोग संयोग विपत्तिमूढमीर्ष्याकषायं च विलोक्य लोकम् ।
अनश्वरस्यात्म सुखस्य हानि: फलत्यनर्थोऽपि विषस्य वृक्ष: ॥

६- स्थूले च सूक्ष्मे ममता जनानां वस्तुन्यहोध्वस्तपरम्पराणाम् ।
कामस्तु सम्बन्धविधौ धने च, मुमूक्षुभावो गणितो न लोके ॥

७- स तत्व मानेन मनोग्रहेण हृद्वासनाया: सहजत्क्षयेण ।
धृत्या च सत्य व्यवसायधाम्ना शिक्षाप्रकर्ष: प्रथितो गुणौघैः ॥

३- या भारतीया कथिता तु शिक्षा तस्या हि नीतावबतारणा स्यात्
स्वदर्शनानां गहना: प्रयोगा: कार्या यथा वृद्धिमियान् मनीषा ॥

९- शिक्षा प्रतीची निजपद्धतिं हि बलेन निर्धारयितुं प्रवृत्ता ।
सा लक्ष्यधानेऽस्ति न दृष्टि दाने समर्था खलु धर्महाने: ॥

१०- विज्ञान-खेला-कृषि-कारु-कृत्या: शिशोर्विकासाय च पुष्प-चेष्टा: ।
क्रिया-प्रकार-प्रतिकार-बेला: कुर्वन्ति सर्वं नहि चात्मधानम् ॥

११- सूत्रं कथं चोद्भवतीह राष्ट्रे संपर्कतो व्यक्तिसमाजयोश्च ।

शिक्षा–प्रतीची बहुषु स्थलेषु बध्नाति मौनं नहिवक्ति सत्यम् ।-

१२- गूढार्थभावस्तु विकासनीयो न रक्षणीयो निहितो गुहायाम् ।
नन्देत् कथं मानवता गुणो हि पुनः पुनश्चैव विचारणीयः ।।

१३- ज्ञानात्परा चास्त्यनुभूतिरिष्टा न पुस्यके तत्र हिता यथावत् ।
सा चास्ति धर्में धृतिचारूचित्ते दमे शमे ब्रह्मणि भारते च ।।

१४- नराः समाजार्थसुयोगिनः स्युर्भावांकुरोत्पादनमत्र चेष्टम् ।
व्यक्तित्वमत्र प्रभविष्णु भूयात् शुद्धं प्रसन्नं प्रसरं च जिष्णु ।।

१५- ज्ञानस्य विज्ञानमयात्प्रपंचादयं प्रभावो भुवि वर्तते नु ।
विनाशसिन्धो निंकटे तटे च विश्वं विनाशं प्रति टीकते हि ।।

१६- दातुं नवीनां सुधुरां च शक्तिं क्रिया' च विज्ञानमिदं समर्थम् ।
परन्तु दानाय च रक्षणाय लोके विवेकाय नतत्क्षमं स्यात् ।।

१७- क्रियां रहस्यं समतां निधाय ज्ञानं शुचि भौतिक तपतां च ।
पूर्णा मनुस्यौ मनुजार्थदर्शी भवेत्सदा ब्रह्मविभावनोऽपि

१८- भवस्य पारे करणाय विद्या–विवेकिनः स्यु र्जलयानरूपाः ।
न कृत्रिमाः स्युर्ह्यवरोधदुर्गा जातेश्च वर्गस्य गिरो मतानाम् ।

१९- परस्परं चोद्ग्रथिताः समस्याः शमेन दूरीकरणे मतं स्यात् ।
रजस्तमोभ्यां कलुषा मनुष्याः फणैरनेकैर्बिषमुद्गिरन्ति ।।

२०- जना म्रियन्ते न बुभुक्षया ते यथा रमण्या जडया सुराभिः ।
अतो बुधैरक्षरदानशिक्षागुणैरनन्तैः प्रगुणा विधेयाः ।।

२१- उद्योगसद्योगविधौ नराणां सम्मेलनानि प्रतराणि नित्यम् ।
भवन्तु धर्माम्बुदमिक्तमूलाः पन्तु विप्राः स्तुतपुण्यकोषाः ।।

२२- पुष्टिं' च दृष्टिं च निधाय बुद्धौ शिष्यप्रकर्षः सततं विनेयः ।
क्षमत्व सौन्दर्यविदग्धवृत्या गुणैर्विवेकोन्नयनं च कार्यम् ।।

२३- क्रूराः खलाः कर्कशकर्महेनोर्देशषु सर्वेषु चरन्ति गर्वात् ।
प्रशासकाश्चापि मदात्क्रूधिच्च वह्नौ प्रकुर्वन्ति घृतस्य पातम् ।।

२४- निजार्थता निर्धनता च जाड्यं क्रौव्य मालिन्यमथो मदो वा ।
यत्रास्ति तत्रापि सरस्वतीयं मातव हस्तं वरदं करोतु ।।

२५- स्वतन्त्राः सत्यास्ते कुशलमनसः सन्तु सुखिनः,
समस्तः संसारो भवतु परिवारो मधुरसः ।
प्रसन्नाः सुस्वान्ताः कलरवमया ब्रह्मणिरताः-
गुणानन्तर्धातुं भवति यदि साक्षी गुरुरिति ।।

आंग्ल भाषा खण्ड

FOUR TYPES OF SPEECH
(IN KASHMIR SAIVISM)

Dr. B. N. PANDIT

Bhartrhari, an ancient sanskrit grammarian and the originator of the philosophy of sanskrit grammar, says in his **Vakyapadiya,** "The eteranally existant **Brahman,** being the changeless essence of speears in the form of that phenomenal substance out of which the process of the universal existence procees."

Anadinidhnam Brahma Sabda-Tattvam Yadaksram
Vivartatertha-bhavena prakriya jagto Yatah (V. P. 1-1)

Many grammarians have tried to elucidate such principle of **'Sabdobrahman,** but have not succeeded in putting forth any convincing explanation of the principle concerned. How does speech or word become matter and mind ? Some commentators and later writers said that **Brahman** uttered the word **'bhu'** meaning earth, and the earth came actually into existence. They quoted some scriputral passages like **"Bhuurityuktva bhvamasrajat"**, But it is, no doubt, a fact that no one among such writers has presented any convincing, logical or psychological explanation of the principle concerned, sabdabrahman has thus remained a hidden mystery with all the successors of Bhartrhari.

Authors of kashmir 'Saivism, especially somananda, Utpaldeve and Abhinavgupta, having attained direct experience of such occult truth about the essence of spiritual philosphy, through the awakening of a superior type of intution, brought about by means of successful practice in saiva Yoga, explained the mystic principle quite convincingly. The sum and substance of their views regarding **Sabdo-Brahman** and four types of specch is given below:-

Speech is not only the means to convey one's mental ideas to others, but also to understand things personally. The speech that serves as the means to convey ideas to others is generally the spoken named as **Vaikhari,** or its written version. **Vikhara** is the hard gross form of a being and **Vaikhari** has it as its abode. It is the gross speech. There is a finer speech that serves as the medium of thinking and understanding, the speech through which a person thinks and forms definite and indefinite ideas of words and their meanings. A word. its meaning and the undifferenciated idea of the both, go always to gather, hand in hand in it. We never form any idea of a thing without mixing it with some word-image, known as **abhilapa,** that shines brilliantly as the essential part and parcel of the idea. Both definite and indefinite ideas are thus penetraited and provided by such word-image as their essence. Such mental speech of ideas, the medium of all thinking and understanding, is termed in Indian philosophy as **Madhyama** speech (मध्यमागक्) The term means both interior and in-between. Being a mental entity and having the interior **puryastaka** (पुर्यस्टक) as its abode, it is the interior speech. puryastaka, the subtle body. has its position in between the gross physical body and that pure spiritual form of a being which consists of pure 1- consciousness Besides. having its position in between **Vaikhari** and **pasyanti**, it is the in-between speech.

Madhyama speech contains word-image, word meaning and a unified idea of the both shining in it. Mutual diversity of these three elements also shines in it. though not as distinctly as in **Vaikhari.** A porson, while thinking is aware of the fact that his ideas their word images and the objects understandable through them are three different elements. having a close mutual relation. It is on such account that patanjali refers to these three elements of speech by

eayin. "Gauritibabeo, gaurityar tho gauritijnanam" (गोरिति शब्दो गौरित ज्ञानम्) All these three elements of Madhyama shine simultanaously inside the understandlng faculty of a knowing person, but shine there as three different elements, bound together by a sort of matual inseparability. But inseparability does not mean unity. It is a constant relation inside the field of siversity. Further light on the essence of speech has been thrown by the ancient authors of Kashmir saleism in this way:–

Awareness is, in reality, the basic essence of all speech. we think of and talk about only such entities of which we are already aware We intend to make authors aware of such thile we spoak about them. Awareness or **Vimarsa** is thus the central point in all functions of speechs. It is in fact the basic speech and the activities of thinking, understanding, speaking and writing are just some outward manifost-ations of awareness. Listening is also aimed at forming some awaro-ness. **Madhyama** is thus an internal roflectionai manifestation of awaroness taking the form of ideas. It is an outwed activity in this sense that it shines as something other then the thinking subject. **Vaikhari** is the reflection of awarenoss in a still grosser outwerdness It, spreads out in the form of sound, Is heard by other beings also and develops in them a type of awsreness similar to that which exists in the mind of a speaker and is projected externally by him through its use. The whole process of manhyama and vaikhari revolvas thus round awareness or **Vimarsa**.

The position of **Pasyanti**, the basic be holding speech, is still interior in comparison with **Madhyama**. It the inner person of a being and is for subtlor in charactar than even madhyama. Through its medium a knowing persen beholds in him the objective existence and on such account it has been given the name **Pasyanti**, the beholding speech. Since mutual difference between word, word meanins and idea of both starts to shine in the mental states of thinking and under-

standing, and since this beholding awareness has its position inside the pure being of a person. lying beyond mind and overthing mentel such difference does not shine so clearly in pasyanti. Besides, pasyanti shines at such a state that transends all types of ideation or **Vikaeps** because ideas are formed by mind. pasyanti. no doubt, beholds the objective existence in its undiversfied form of simple thisness or **"I danta"** but does not form at all any idea or Vikalpe about it, It shines as a pure self- awereness bearing just a shade of this-ness and appears as **"Aham"** I am this. It is in fact the speech of pure self awareness at the stage of in partial unity. since all the three elements of mental speech shine in it in an undiversified form and since, both, the beholding subject or 'Aham" and the beheld object or "Idam", become evident in it, it is a speech belonging to a state of partial diversity as well, as become it is aware of more than one element. Vaikhari and madhyama — consist of sound and idea but pasyanti is a speech conducted by awareness alone. Being the medium of the revelation of the finer essence of all existence, it is counted as a speech or vac, because is a medium of non-perceptional and non-inferencial revelation. since awareness expresses itself through speech Pasyanti also is a speech it is a type of self expression of the beholder.

Word and word-images, as well as ideas, shine in vaikhari and madhyama in some definite order of succession. But no successiveness of any kind appears at all in pasyanti. It is therefore defined as **akrama** or **samhrtakrama**, that is the speech in which the ord.r of successiveness become totally disseolved. It has further been defined as **& varupa-jyotih** The psychic self — luminosity of the beholding subject. A clear realization of pasyanti can be experienced by means of practice in saivapoge. When one's mind become free from all objectve ideas and stops all its objective functions of ideation, it becomes one with the psychic lustre of the pure consciousness of the subject and the salf awareness of anity in diversity. turmed as pasyeenti, shines

through its own psychic luministy, provided the person does not lose himself in dreamless sleep A person possessing a superv'gilant attantiveness can have a momentary glimps of pasyanti in some high pitch of an emotion like anger, joy, wonder, bewilderment etc. But generally such a fit of sharf emotion is so short lived and the mind of commen man is so sluggish that no interospection about it becomes possible. A thinker, blessed with a finer type of shorp awareness. can realize it in between two mental ideas in the form of pure I- consciousness which shines there as the essential connecting link of such ideas. A sivcyegain so as pasyanti on the occasion at the risu of such pure perceptional congnition which is free as free as yet from mental ideation and as known as **Nirvikaipa-samvedane.** An advanced sivayogin can easily realize and relish pasyantI at all such occassions.

pasyanti is that self awareness in which both I-ness and thisness shine simultandously as knit togather by a relation of unity in diversity. "Aham idam" is the form of such self-awareness. since it beholds "thisness", it is termed as pasyanti tne beholding self awareness, Beyond it there is an other type of awareness which does not at all behold anything but shines only itself. It shines as the luminous revelation of only the pure subjecive I-consciousness transcending all physical and mental means of knowledge. The pure awareness of the self shines in it as the infinite, eternal, all containing, perfect, pure and divinaly potant absolute subject that is It is not a subject in relation to any object, but only the absolute and independent subject. The subjecthood of such subject does not depend on any objective activity. It is the perfect independence of the infinite cousciousness to manifest objective existence in the manner of a reflection, in accordance with its free will, through its own diving powar and on account of its playful nature. No object appears at all in such transsmendental self awareness termed as **Paravac**, the supreme speech. It shines only as "Aham" and not at all as "I dam". No thisnase but only the infi-

nite I-ness shines in it. The whole objective existance remains marged in such I-consciousness, just as all the elements of a plant lie merged in its seed. Since the infinite awareness and since it revels to a person his exactly real self in its correct and true nature, it is taken as a speech and is termed as **para-vac**, the supreme and trasnscendental speech consisting of pure awareness of the real self. As has been already said awareness is the essence of all speech and speech is a means of revelation. Such infinite self awareness, enlightening the supreme truth is accepted as the supreme speech. Such all inclusive, pure and infinite consciousness,being the source of the manifestation of all phenomena, is known as the absolute **Brahman**. Saive philosophers see the absolute godhead as the out of the root **brhi** vrddhau, meaning evolution. Since the self-awareness evolves into all pheno mena in the mannar of a reflectiod, it is termen as Brahman, the evolutor who evolves like that. Since awareness, being to illuminate, and being the source of all speech, is termed as **Vac** and since speech consists of words or **Sabdas** the supreme Brahman has been termed by Bhartrhari as **Sabda-brahman.**

An artist forms the image of his creation in his mental apparatus before creating it externally. His creation shiness these in the form of Madhyama. Before such mental formation of its image it flutters in his inner-most person in the form of a stir or restlessness aimed at the creation of such image. The whole art, along with all its essential elements, resolves in an unmanifest and undiversified state within such inner restlessness of the artist. That in the art in the state of pasyanti. The original seed of the creation of the art at all these three stages of its outward manifestation lies basically in the inner-most centre of the whole personality of the artist, It lies there in the form of the art-creating power of the artist who is aware of having such power. such awareness of the powerfulness, on the part of the artist, shines as his art in the state of **Para-vac** the Supreme speech.

Brahman, the Almighty god is the greatest of all great artists and the whole phenomenal existence is his divine art. It lies Him in an unmanifest form and shines there in its nouminal espect consisting of pure and divincly potent infinite I-consciousness. The absolute reality is fully awere of the divine power or potency lying in it. Such awareness buing the paravac is the basic source of the limitless bliss fulness of the Abselute. The ourges of such blissful awareness take the form of pasyanti in which the absolute reality becomes activity inclined to manifest its divine powers outwardly as well and in which the manifestable elements start to shine faintly in an undiversified form Such restless inclination of self-awaraness is the basic **Pasyant V ac.** The mainifestation of the undiversified manifestable becomes clear and distinct at the next outward step of pasyanti. These are the sadosiva and the Isvara -stages respectively. The furthar outward vibratory activity of pasyanti gives rise to definite immages of creation taken as the madhyama type of awareness and such images are followed by their actual outward creation, known as the Vaikhari state of awareness. In this way the origtnal essence of the whole creation (that becomes manifest through various types of speech) shining basically as divinely potent and pure self- awareness, takes up, by stages, the different form of the creation of the phenomenal existence. This is what Bharthrhari meant to sny. But since all such manifestation appears in the manner of a reflection in mirrar, the pure I-consciousness does not actually become transformed into pheneomenal existance. Therefore the great philospher used the word "Vivartate" just to keep off the samkya theory of **Parinama-Vada** in such respect. He did not use the word concerned in the sense in which it was afterwards used by the authors of Advaita Vedanta. Therefore he did not mean to preech **Vivartavada** but meant to establish a theistic absolutism expressed by the authors of Agams and Upanisads.

The previously mentioned great authers af Kashmir Savism have thus explained the principle of **Sabda-brahman** in a convincing

manner and have thrown a wonderful light on the nature of pasyanti and parartypes of speech. They have accepted the besic views of Bhartrhari but have raised objection to the grammarian interpretations of **Vakyapadiya** on two points:- such interpretetions assert that pasyanti is itself para. But Somananda and Utpaladeva criticised and refuted their such assertion. They argued that an awareness, which beholds something, cannot be taken as para, the absolute transcendental speech, as it is aware of some objective element that is behold by it. The word pasyanti is derived out of a root meaning an objective action denoted by a transitive verb. Therefore it must be a position below that a **Paravani** shining as the transcental and absolute monistic reality known as Brahman. The other objection raised by them is with respect to the previously mentioned theory of **Vivarta.** Vivarta as developed later in Advaite Vedents is either a more appearance of something that does not really exist at all, but appears tb a being on account of a delusive cognition based on his ignorance; or it is a delusive appearence of something in the form of some other thing on that very account. The phenemenal universe does not really exist. but appears as an existent reality. It appears to ignorant beings as world, as soul and as god through their delusive knowledge That is the theory of **Vivarta** as devaloped in Advaita Vadanta. The authors of Kashmir Saivism do not agree with such theory of Vivarta. They raise many objections against it. They put forth logical arguments and poyschological findings and assert the truth that the wonderfully utilitarian phenemena, appearing in the universe. cannot have ignorance or Avidya as its source, because Avidya is a substanceless supposition and the phenomena are substancially exitent realities, having special types of utility. Relying on thair intuitienal reveltions, they assert that all phenomena do exist in Brahman, the infinite, divine, potent and pure theistic I-consciousness. They emphasize the fact that all phenomena become externally manifest by virtue of that divine and playful stir of such absolute consciousness which threby in Him in the

form of **Pasyanti** and vibartes out the phenomena existence in the fields of Madhyama and **Vaikhari.** Thus they lay empasis on the theistic nature of the absolute reality and take its such nature as the basic cause of the appearance of the whole phenomenon. It is thus the principle of theistic absolutism, and not **Vivarta**, which they mean to propound. Bharthari, in thair view, meant to say that Brahman manifests outwardaly the phenomenon that exists in him in an unmanifest state. The **Samvrta** or inwordly hidden, universal substance is just brought by Him to the **vivrta** or clearly manifest state. Such theistic and monistic absolutism and not the Vivartavada of the foll—owers of Sankaracharya, is thus the fundamental philosophic principle of Bhartrhari as understood by the ancient authors of Kashmir Saivism, But the grammarian commentators of **Vakyapadiya** missed such paint bacause they were led away by the Vivarts theory of Advaita Vedanta. Th is is what great authors like Somanana mean to say.

The practice of sawa momism continued in India through the lines of odept yogim right from the pre-historic ages. its dement are clealy and in ancient where like bhagawadgita **Vaing valbyaments, Auadtutagita, Yogavaristha, Tripura-rahasya** etc. though it did not evolve fromally before the month centary A. D. Bhartihari got initiation in it from some siddha. the was impessed ro much by the usulh of its successful practice that he could not supposs an lager urge to empress it even in a word meant to teach the grammar of pouint that in what the witer of the paper fools.

TOWARDS A VALUE-ORIENTED EDUCATION BY

Dr. R. L. Varshney*

To talk of a value-oriented education in a vale age is either a force or a compelling necessity. Much of our talk regarding a new education policy is either Utopian or full of sycophancy. Ink of an oceanic magnitude has been soaked in finding out a suitable educational pattern in India yet we are not able to spell out exactly what are our maladies and methods and means to redress them. Who does not know what are good values ? Who does not recognize the importance of character building ? Who objects to the integrated and all round development ? Who would disagree that the major evils of our educational system ate graft, indifference, incompetent teachers, negligence on the part of planners, educators and class-room teachers, tyranny of the administrators, use of unfair means in the examination, defective system of paper-setting, examination and evaluation, lack of good textbooks, over-burdening of pupils at the primary stage with books, prigishness amongst teachers, frustration amongst learners, callousness in the Heads and purposelessness. In fact, in our attempt to convert the human mind into a living computer we have taken away from the learner the very joy of learning, and instead of being learned men we have become only college-passed.

Unfortunatelly the operators of teaching activity have estranged themselves from the basic objectives of education which are change of human behaviour, development of human skills, abilities, talents, and creativity, thinking, etc., i. e. the development of the mental, physical, spiritual, psychic and vital facilities of man. These objectives have got blurred also because the attitude of society has changed. In an age of materialism and glmaour when money can buy not only

physical comforts but several other things, where money or gun and not knowledge has become real power, to talk of moral values of truth, celibacy, non-acquisition, self-control, endurance, simplicity. generosity, punctuality. altruism, discipline seems to be theoritical or bookish. As the society is money-oriented, education too has become money-oriented, leading to the present chaos. When young men find that in practical life valueless people are flourishing more and more their moral values which they acquired in schools, colleges or univer-sities, from books and teachers get tarnished and there is a negative psychological transformation in them, Consequently, good values are abandoned for the sake of a better and comfortable living. If society goes on giving importance to wrong values, the sativic values will themselves to the winds and all the teachers and books and all the king's horses and PM's utterances full of fevicol shall not be able to put our humpty-dumptys together. Not doubt teachers have a signi-ficant role to play, but the teacher's role is limited and constrained because of several factors, more importantly, the time-factor. Most of the time the pupil stays with his parents or in ths milieu which is itself diseased.

For any purposeful transformation or reformation of our educa-tional system a begining has to be made the beginning, from the primary level. We should concetrate more and more upon improing our primary and secondary education. In both America and Russia the standares of primary and secondary education are much better than in India; there is the empasis is on oral and experience-oriented educa-tion our approach, on the contrary, is bookis. We have to give up book-oriented and money-oriented education. For this delinking of degree from the jobs is a must. But it is the government who has to make a beginning in this respect. Let the Union Public Service Commision and other state and central gevrnment recruiting agencies come forward boldly. The major changes needed presently are not in respect of the contents of teaching but in respect of the appro achas of the leachers, planners and all those concernd with education.

Better buildings, better laboratries and libraries alone cannot impart education. It is a common belief that it is not in the soil prosperity but of adversity that talent grows best.

A value-oriented education must be based on the future needs of the country, must also promote national integration end unity, brotherhoad and harmony and arf of adjusting and togeterness, must specify the medium of instruction uniformally at least for higher education. At the same time it should aspire for character-building and virtue of self-dependence and self-employment should have provisions for vocationalization at various stages, should be inter-discipleenary to avoid wastage of national talent, should be based on the principles of equal opportunities to all, Out emphasis shocld be real acquisition of knowledge, abilities, skills, experience ete.

How can all this be done in such a large country like ours. By good planning, and consistent and constant pursuance of the goals and objectves, re-valuation and corrective measures from time to time, establishing uniform standards, developing national or provincial education services, establishing honest and objective norms of evulation of the work of teahers and stuents, by firmness and constant endeavouring with dedication and devotion of all the sections of society-teachers, students, parents, planners, adminis rators and poiticians, and also by leaving education honestly in the hands of teachers and by involving them in all the major decisions. Tradition and talent, antiquity and novelity, continity and experiment, seach research, sincerity, continuity and experiment, search and reseach, sincerity and love have to mingle themseves to weave a better equcational fabric.

---

*Reader in P. G. & Research Department of English, University of Gurukula Kangri, Hardwar.

Values and Educational Policy

By- C. S. Trivedi
Reader in Psycho.

There is a reat hue and cry over the policy of educati ɔn to be adopted in our country. National seimnars and debates are being organised to the effect. As we know, the present system of education is the result of the report submitted by Lord T. B. Macaulay to the British govt. in the year 1932 when the east Ir.dia company shifted Its motto from trade to territory. Accordingly, Macaulay emphasised cn the needof forming a clas of persons who should be the interpreters between the English fulers aud those whom thery governed. He recommended that such persons undoubtedly, might be Indian in bolld and colour but English in their taste, moral. attitude and In-tellect. Thus we see that the very object of education prevalent in our country has ever to produce a machinery to run the alien govt. Virtually, it was not imparting of education ot Indian youth in the bruest sense of the term but it was some sort of training for running the British bureaucracy.

As a matter of act, true education consists in the conquest of lower impulses by the higher altogether. Education may be summed up in the comcept morality. In this context, if we view objectiveiy and peruse the situat on. it may be said beyond any doubt that there has been a steep degr dation in the moral outlook of our people. Horality has been replaced by immorality. There is corruption and indi cipline in almost every section of our society. people in majority have lost a sense of commitment to exellence. They have become self-centred having forgotten high ideals of life. There was a time when our ancestors attitude towards life was quite liberal. They aimed at the eradic tion of all sorts of suffe:inge of others, helping the poor and needly even at the cost cost of th ir own interests. ow we have

become absolutly materialistic in our outlock. by fair means or foul people, eneraly want toattain their goals. The spiritual height of our people has been reduced to zero. Dishonesty and inconsistency in our hehaviour has become the order of the day. There is nothing like national c character. National needs are subordinated by personal ones. To sum up, whole of the environment is seasoned with all these ills as environmcnt is seasoned with all these ills as aforesaid.

acording to our culture the highest purpose of this world is not merely to live in !t, to know it and to make use of it bue to realise our own selves in it through the expansion of sympathy and compassion among all the human beings. The idea of brotherhood and oneness is well-contained in the expression of.

according to our Indian thinkers. The whole of the world was; to them, Just like a familo. Now the situation is otherwise. There provails among us an idea of disintee ration i. e. the feeling of 'we' and 'thea' Hence there is a great deterioration in moral and social va ues of our life.

Aain we see that our democratic values are also not quitt upto the mark. A high sense of responsibility and self-discipline, honesty and integrity, sinceority to duty are some of the essentials for democracy to flourish. when we introspect accordingly, we find that we lack all theseaualities vehemcntly.

Now the question arises, why is there such type of degradation in the values aforesaid ? The only reply is that pesent day system of educacion failed to help the individual in inculcating higher values of life Thus the change in our educational set up has become indispensable. It has invited immediate attention of tho Govt. the educationists and academicians while restructuring the pllicy of education, we wiil have to take the process of primary turough secondary to the university stage. In order to attain the desired goal, comuplsory moral and

ethical teaching is to be introducedat all the stages afore-said. eqall know that a child is always receptive, imitative and sensitive by nature. whatever values the child inculcates in the family, school and society, they become l sting. The courses of studies at all these stages must be reasoned with moral and ethical tone. Todays system of education is quite devoid of such approach. Hence there has been stoep degradation in ethicai and moral values

Apart from this, professional and job oriented courses of studies are to be intoduced, Education should be compulsory for all alike upto primary, rather, junior high school level. students should be allowed to offer subjects and ording to their capacity, liking and interest of cause there is narked relationship between job-interest of an individual and his achievement there of as work with interest is joyous and colourful, work without interest is drab and colourless we see if a man wite literary taste is compelle l by the circumstances to sitwith a bundle of files on a table before him, it leads him somwh belh at to the the brink of tragedy. to attain thin objective. educational and vocational guidance centers should be established at Block or district levels.

Secondly, in order to earn proficiency and working knowledge in the sphere concerned, every school/college training centre must be linked with some factory or manuf cturing centre as the case may be. University education should be allowed to those only who are highly talented and have a keen aptituted for higher learning and research work. we must see that indian universities should not grow into the nurseries of discontented youth with tensionful, narrow and dull brains.

The next stcp for efifective educational policy is tosee that educational institutions must not be commer cial and business life centres as a source of earning livelihood for their proprietors. A huge amout of money is snatched through these nursery and public schools A national policy for running such types of schools must be chalked out and a code of conduct for the proprietors and te ches of these

schools must be prescribed. Every Tome, Dick and Harry be not allowed to run such schools and spoil the career of our children. Education must be into the hands of persons with missionary spirit.

Still another measure to be taken is that unions of te chers and those of students should be sevuely banned. it has observed that these unions encourage indiscipling and inefaiciency and mar the progress of functioning sometimes. Simultaneously, it becomes essen tial and foremost-duty on thepart of the govt. society to see that teachers and studenes are not neglected. Their requirements are immediatcly fulfilled an ' proper respect is given to them.

One thing more, appointmants in the institutions and cantres of learning must not be made on political and regional considerations. The learned and academicians cross such barriers of narrow nature. The Heads of universities and other educational institutions should be high class academicians and administrators. Tod-ay we see if a political cader loses his/her elections, he/she is either made the governor of some state or the Vice-Chancellor of a unive sity or an ambassador in a country abroad such prctices of infiltrating nature must be stopped. Education should remain unruffled a the winds of the present day politics otherwise we will fail abruptly to prepare the youth for facing the challenges of the next country.

Thank you very much

EDUCATION AND SCIENTIFIG SPIRITUALISM

Dr. B. P. Shukla, Reader,
Deptt. of Physics, G. K.
University, HARDWAR.

After thirtyeight years of independence it is for the first time that our young Prime Minister Shri Rajiv Gandhi has sparked a nation wide debate in the process of formulating New Education Policy. It is an open invitation to our educationists and academicians to make their positive contribution in the matter and give a right direction in giving shape to our educational system so that it becomee purposeful and relevant to our needs. It is a matter of still great pleasure that under the dynamic leadership of our new Vicechancllor Dr. Satyakam Verma this seminar on education has been organised under the convenership or our learned colleague Prof. O. P. Mishra. I consider it my privilege to get an opportunity to express my views on the subject. Topics selected for seminars are also worth the spirit and status of Gurukula Kangri Vishwavidyalaya which has played a historic role in developinggigana ic personalities equally rich in intellect and spirit and has made a sizable contribution to the freedom movement of our country.

The title of this paper which I am going to read

"Education and Scientific Spiritualism"

Philosophers and pragmatists of all ages and countries have given various definitions of education. Some of them have been proposed to meet the requirement of a particular time in a particular age while others spell out the eternal values. If we take a sum total of all these then it msy be defined as follows: "The aim of educations is to make us civilised human beings conscious of our moral and social responsibilities. Equcation must enable us to undersand the world in which we live-physical, organic and social. It should develop in us the competence to have an idea of the

general plan of the universe and infuse in us a never/ending zeal to march forward in search for truth".

The two paradoxical idealogies spirtualism and materalism are perhaps as old as the human civilization itself. Whether we talk of of the Greek Philosophers of the west or of the ancient philosophers of the last we always find these two schools in existence sideby side. In the modern times they emerged in the form of "Dielectic. Idealism formulated by Hegal and 'Dielectic Materialism' proposed by Karl Marx and F* Engels. The two idealogies appear to be diagonally opposed to each other. The two are also responsible for giving sise to two world campus.

The question which naturally arises is "Are the two idealogies quite apart from each other or do they have some thing in in common"? Let us pause for a moment in search of the flux of truth which permeates through both of them, Let us examine these two idealogies vis a vis vedic Philosophy of Traitvad properly interpreted by the great Rishi Dayanand. According to Traitvad there are three enternal entities in the universe.-Prakriti, Purusha and Parmeshwar, The example is given of a pitehar It is built out of clay. It is built for the use of man. One who builds the priteher is the poter. Here the clay, the manand the potter are analogues of Prakriti, i. e., matter, Purusha, i. e human soul and Parmeshwar, i. e. God, respectively. This analysis leads us to conclude that matter, and spirit are not contradictory to each other rather they are complementary and the universe cannot be understood unless we to be both of them into consideration. The prioctures of universe and its phenomena presented by the materialist or spiritualists are only partial, The complete picture can be presented by combining both of these aspects in the light of Vedic fruth.

The acceptance of this philosophy would bring about an end to several idealogical conflicts. This will enable us to develop aharmonious view of universe resulting into a greater peace in the

society. The condition for growth and development of human spirit shall be more congenial. Men and women prepared in such an environment shall be intellectually superior and ethically sound.

The fact that we are in the desperate search for new education policy shown that some element has been grossly missing in our education which has given rise to the present state of affairs in our society. Our educational system has miserally failed to build right type of moral values. If we contemplate on the s situation as a whole, we shall come to the conclusion that moral crisis springs from our indifference towards spirituality. Hence our educational system needs spiritual orientation.

India has always affirmed that man is a living spirit and not a machine. Education in the scheme of our Rishis (ancient as well as modern) starts with faith in spiritual life. The very foundation of institution like Gurukula Kangri Vishwavldyalaya of Swami Shharaddhanand Ji and Shanti Neketan of Gurudev Tagore have been laid on sprituality.

But the crux of the problem is as to how can we convince pthers particularly the newer generation reading in our schools and colleges to accept the spiritual ideals. we can't superimpose things dogmatically. We can't make a student spiritual by teaching the essons of spirituality like other subjects included in syllabi A personof materialistic outlook has no faith in the spirit at al. For him all phenomena taking place are nothing but the results of physical, chemical or biological changes. How can we make such a person to develop faith in the existence of an undying and undecaying soul or in the existance of sppreme God.

Modern age is of science and technology. There is no dearth of persons who hold modern science and technology largely responsible for the presenti Crlsis of faith. But I can affirm with conviction that only a scientific outlook towards things can come to our rescue

at this critical juncture. It is not by depricating science but by adopting it that we can lay the foundation of spirituality in the society.

What do we mean by the "Scientifie outlook" ? Science looks for systemmatics in 'Nature'. It discovers laws governing phenamena. The scientific discoveries fond their application in one or the other domain of human life. This is how the scientific progress goes on. During this process we also observe that a smaller law which was discovened yesterday become the part of a greater low disoovered today and this also may turh out to be subordinate to another law to discovered to narryw The Newton's Law of Cooling is contained within the Stefan's Law which was discovered later in time. This leads one to think that the universe is orderly and systemmatic and there must be an ultimate Law of which all the lawsdissovered so for shall be the parts The unified field field theory, first conceived by Einstain, is an attempt to explain all the forces of nature according to one and single principle.

There is yet another aspect of science certain laws in the physical sciences have their analogues in the field of social and psychological sciences. We have been hearing from our ancestors "As you sow so you will Reap" which defines the law of Karma. Newton's third law of motion states "to every acticn there is equal and opposite reaction". This law of physics can be helpful to explain the law of Karma, i.e. every good or bad Karma necessarily rebounds upon its doer.

Modern scientists have disigned and instrument known as Electrio Encephilograph (EEG), This instrument is used by the psychologists to study the brain waves of a person. Theughts arising in our minds are emitted in the form of energy. This energy is picked up by the E.E.G. and is recorded on its sereen in the form of waxes. Our thoughts good or bad strong or weak can be studied by this instrument. So it is ptoved that thought is enaergy and peysicists tell us

that energy remains conserved. Hence whatever thought we think continue to reverberare in the atmosphere. A good though has a positive effect and an evil thought has negative effect just as good or bad words and actions have their good and bad effeets. Every religion in the world asserts that we should think positive thoughts. To generrate an evil thought is als a sin what to talk of evil words or deeds.

Thus it can be seen that thae the principles enuntiated by the spiritucl thinkers are being confirmed by the moders science. This analysis wili ultimately lead material sciontist to think on spiritulai lines and a spiritual thinker to adopt a scientific outlook. This philosophy can be termed as " Snientific spiritualism".

If this philouophy is given a place in our educational system, this will generate a new wave of enthusiasm to stick to moral principles and we shall be oble to prepare men and women who shall be sincere. horest, hardworking and truly ethical and the very purpose of education shall find its fulfilment.

GURUKULA SYSTEM OF EDUCATION AND NEW EDUCATION POLICY

Dr. Rajneesh Dutt Kaushik,
Lecturer in Chemistry
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya,
HARDWAR

Now a days, when the new education policy for our country is beibg worked out, we have to look into the drawbacks of current education policy before suggesting any changes in it.

The job o ionted nature of the coures, that may cater to the needs of the modern world in the applied fields of the subjects, is being demanded and felt today as the need of the hour. we have to provide chiefly that typeoof the education which prepares a person whose services may suit to the needs of the various industries or who can earn his/her bread and butter on his/her ow, by adopting the ways that do not do any harm to our civilization and keep the moral of a person high. So, the greater emphasis is to be laid on the ccurses dealing with non-conventional energy sources, pollution, computer science and analytical te hniques. etc.

Our young generation, which will be the chief gainer or loser in case of any change today, is facing so may problems on the fronts of moral and character building. So, the prome joh that the new educational policy is expected to do is to catalyse the moral and charact r process for this generation in particular, and for others in general. Actually, there is a lot of difference between a degree holder and an educated person. This is, no doubt due to the fact that each degree holder is not being enable by our existing system of education, to protect and even have faith in our moral values. At the same time the western culture, which is not suitable particularly to our country,

is making its grip on our so called educated class more and more firm day by day. One of the factors responsible for the brain drain is the same increasing of the estern culture which is making our students more and more crazy for it.

If there is something in the estern culture that attracts us, there is definitely something in our own Indian culture and values which attracts western countries. But our educational institutions have failed to serve as protective bodies for our own culture and moral values by not providing our students a proper knowledge of our culture and by quoting so many high words for the western culture.

Gurukula System of education is, no doubt, the proper solution to this problem, as it basicaliy believes in imparting an education to the masses which covers the knowledge of our own culture and principles related to Brotherhood, moral and character cultivation besides providing the knowledge that may keep our students on the fronts in the international competition today "Ashram System" and "Garbhastha Chatra System" are the hIgh lights of Gurukula System of education which are self explainatory in this context, These two systems and introduction of 'Indian religion and culture' as compulsory coursce, will ndable our educational institutions to he in building new society protecting at the same time all the respects and knowlodge of our own culture and moral values. It must also be mentiond at this juncture that blind faiths and superstitions should not find any place and as such an effort is to be made to establish harmony between the heart and the mind while going through these ways,

Let us feel the fragrance of an education policy which will blend with the above mentioned suggestion, Definitely, it will be an Indian product suiting to our current needs.

VEDIC CONCEPT OF AGNI.
BY

INDER DEV KHOSLA, (Advocate)

Senior Vice-President, Arya Vanprasth Ashram, Jawalapur

Like many other Vedic words such as Indra, Soma etc., the meaning of the word "AGNI" is also not understood in its proper per pective. Normally, it is assumed that like the Hindi word "AGNI"- it also means "BURNING FIRE", whereas, it is not so. In Vedic Literature, it has a deep meaning and has been used in different, aspeuts at different places. Even, if we look to the Dictionary meaning of the word FIRE, which is suppsoed to be its equivalent, we will not fail to find that it is reckoned of four element viz., Heat, Light, Flame. Incandescedt (warmth). It also means enthusiasm, ardour, passion, spirited vigour or animation (live force). Therefore, there is no reason as to why this word AGNI be confined to mean BURNING FIRE alone.

DEFINITON

The word AGNI according to 'Nirukta' is derived from the root Nee which means to lead, to carry & forwrad. leader who leads to the desired goal.

अग्नि: कत्मादग्नगी भवति । मग्ने यवेषु पुणीयते- अङ्ग नयति संनमान:

Therefore the essential trat of AGNI is LEADERSHIP to be the first amongst the first. In fact the word AGNI is the fire amongst the first. become, Rig Veda is the firss book in the world literature, and it starts with the word AGNI. अग्निमीळे पुरोहितं (Rig 1. 1. 1) same importance is goves 4

Yajur Veda:–

अग्ने नय सुपथा रायेऊ अस्मान विश्वानि देव वयुनग्नि विद्वान ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनों भयिषाते नम उक्तिं विधेम ।। (yaju 40. 16)

O Lord (Leader) the sources of all knowledge lead us to right path. We pray you for all round prosdarity.

Take us away out of mud & mire.

Again it is stated:–

अग्निर्वै देवानाँ सेनानी (Nirukta 7, 14)

मन्द्र होतारमुशिजां नमोभिः प्राञ्चं यतं नेतारमध्वराणम (Rig 10. 46. 4)

All these above quoted Mantras clearly convey the fact that the essential feature of AGNI is Leadership and God b ing the raposi-tory of all knowledge can be the best leader.

The following epithets applied to AGNI at various places irref-utably establish that 'something other than burning fire is maent by AGNI'.

(i) प्रथम स्यामृतानाम् – (first amongst the first)
(ii) गाषिामृतस्य - (guardian of divine order)
(iii) मर्त्येषुन्योतिरमृर्त – (immortal light in the mortal man)
(iv) प्रचेता – (sentient)
(v) विश्ववेदसम् – (repository of all knowledge)
(vi) हन्यदातये - (bestower of knowledge)

Now we proceed to deal with some of the important aspect of AGNI–

इन्द्रं मित्रं वरुणअग्नि माहुरथों दिव्व: स सुषर्णो गुरत्मान् ।

एकं सद्धिपुा वहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिवान माहु । (Rig 1. 164. 46)

He is styled as Indra. Mitra, Varuna, Agni. He is celestial, well winged Garutma. He is one but the learned persons call him by various names Agni, Yaman, Matrishvan etc. etc.........

अग्न आ याहि वीतये गुणानाँ हव्यदतये ।

नि होता सत्ति बर्हीष (Sam (.)

O god come to give us knowledge and devoture we desire.

Sd. in the Sanctuary of our heart, and draw us not of mcre.

त्वं नो अग्ने महोभि विश्वस्थ अरातेः ।

उत द्विषो मत्यंस्य (Sam 1, 6.)

O. ommiscient God, guard us with Thy great splendour against all

miserliness of enving of mortal man.

तदेवाग्नि स्तदादित्यस्तु द्वायुस्तदु चन्द्रमा (yaju 32. 1)

He is Agni. He is Aditya, He is Vaju, He is moon

त्वमग्ने प्रथमो श्रंगिरा (Yaju 34-12)

Thou ore Slfclluminaing Agni-Thow are the are whois Known feirst of all.

There are hundrds of such Mantras, may there are aven some full chapters in Vedas wherein, God has been addressed by the word AGNI.

There is also an interesting and famous between Yamacharya & Nachiketa in Katha Upnishda which supports the above view.

पुते ब्रवीमि तदु से निवोध स्वरषेमग्नि नचिकेत: पृजानन् ।

अनन्त लोकाप्तिमथा प्रतिष्टा विद्धित्वमेतन्निहिर्तं गुहायान् ।

लोकादिमग्नि तमुवाच तस्मै (katha uprish 1, 1. 13+14)

I tell you, Nachiketa, about that AGNI that who let you in heaven. That alone is the sourees and sustainer of the planets and other elestial orbs. He allots places therein.

अर्थ य एषोडन्तरों हुत्युष्करे एवाश्रीतोज्न्मति

सएषोडगृिर्दीव प्रित: मोय कालाख्योटद्श्य:

सर्वभूतान्नमति [Maitryani upmih 5, 2.]

In the lotus like Heart that Agni [soul] is situated - He takes food and residing in Mokshdham (द्यौ) that Kalagni represents God - At the time of desolution of the universe. He devours everything.

माह् खुल आत्मा ईशान: शभुर्मवो रुद: (Mait upnish 5-8)

The same soul (Ishwar) is called by the name etc. and that very hidden! Agni (Light) became brighter.

अरण्योर्निहितो जातवेद गर्भ इव सुमृतो गर्भणीशि:

दिवे दिव दडयो जागृवीदहंविष्मीदंमनुष्ये भिराग्निरेतदै तत्

कठ 2.1.8

Just as women contains pregnancy in her womb and Just as wood

contains fire (Agni) in it, so also the body contains the soul (Agni) in **it.**

वन्हेयथा योनिगतस्य मूर्तिन दृश्यते नैवच लिण्गनाश:
सभूव एवेन्धनयावग्राह्यस्त दोभयं वै प्रणवेन देहे ।। (Sheveta shud upni)

Just as we cannot observe fire in the wood but it does exist therein so the soul (Agni) resides in the body invisibly but it can be known by pondering upon प्रणव (God) Shatpath Brahman make this fact more abundantly clear.

अत्मैवग्नि:-= Verily soul is agni. (Satpalh 6.7.1.20) Growth in the bodies takes place as a result of metabolism and anabolism of the Agni popularly known as energy in modern terminology. Such biological functions of Agni is traceable in various passages of Vedas. They state how Agni is hidden in embryo.

अवश्यमस्य व्हतौ महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु (Rig 10-79-1
नानाहनू विभृतो स भरेते प्रसिन्वती वप्सती भूयत:

Inalize the greatness of this Agni which exists of works in all the living bings and digists. all that is eaten.

अथज्मो अथवा दिवो वृहतो रोचनादधि ।
अया वर्धस्व तन्वा गिरा ममा जाता सुक्रती प्रण ।। (Sani 1.8)

O Agni (energy) the Shinning one, ceme to me the from eanth, or from sky above, stay & grow in my body, punby my speech and take came of my on springs.

Besides the above Biological Agni has been described in various texts as under :-

(a) प्रजनंन व अग्नि: — Procreation is Agni Tralya Brah 1.3.1.4
(b) मन एवाग्नि — Mind is verily Agni Shatpath 10.12.3)
(c) अग्निर्नै देवाना जठरम् — Agni is verily beily Tratia unpnish 2.7.12.3
(d) अगिर — Given of energy to limbs

This Agni is known as urja & urk उर्जोनपातम् (Rig 10.20.10)
Urja Bharat उर्ज: पुत्रं भरत (Rig 1 96 3
वैश्वानरो महिम्ना विश्ववकृषि Rig 1 59.7)

Vaishwanav Agni by its importance is Vishvakriti (belonging to all or working in all living beings). All our efforts in lie are to get going the Agni (energy) within us. We derive this energy from the foods, we intake, which in turn supply us the needed calories of heat (जठराग्नि) This process goes on till it gradually looses its force (मन्दाग्नि) with age and other factors.

This fire of life (जीवन शक्ति, under lios in all human activities and this vilality, geiltes, enthuseasm, excitement, splendewe In the body is nothing but manifestation of Agni.
God is the primeval cause of all energy

न तत्र सूर्यो भाँति न चन्द्रतारथ नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽय अग्नि:
तमेत्र भान्तमनुभाति सर्व यस्य भासा सर्वमिद विभाति

The Sun does not shine nor the Moon nor the Stars much less these flashes of lightenings born out of clouds. He shines and everything shines as a result thereof He is ts the first move although He Himself never moves. At the time of creation of Universe, He put energy (Ishan in Vedic language) in the dormant matter (Prakriti) which began to evolve and thus this Universe comes into being in this beautifully manifested from.

This energy is constant and is convertible into work. Clansion. the founder of the modern mechanical theory of heat, is of the view that this energy is of two types, one that work constantly and the other is entropy (the force lost for purpose of work). This later energy is distributed in the cooler masses and is irrevoeably lost and ends. The former type of energy (Agni) functions in all spheres of life and is called by various names.

Flamed haired (Rig 1.45.6 = शोचिष्केशम्

Golder theth [Rig 5.2.3] = हिरण्यदन्त

All devouring [Rig 8.44.26] = विश्वादम्

Roaring waves of sea [1.44.12] = सिन्धोवि उर्मय:

About the use this energy, Rig Veda puts in a very nice manner.

प्रैशस्तोम: पृथ्वीमन्तरिक्ष वनस्पर्ता रोषधी राये अश्या:
देवो देव सहतो भूत, महयं मानो माता पृथ्वी दर्सतौ घात् (5-42-16)

Every wise person having a good insight into things should realise the properties and uses of this praiseworthy phenomenon of heat-energy] that vitalizes the earth, the atmosphere, universe in such a manner as to render them capable of producing wealth and happiness for all beings.

This physical energy is normally measured in horsepower. In Vedas manpower is called Vaishvanava or Tanunapat i e.. one which protects the body

प्रागो वै तननपात् महित त्वः पति (Alriya Porae : 2-4)

This atmospheric energy is stated to exist in :—

(a) समुदवाससन् Existing in the Sea and Sky

(b) श्रैविभृगुवत श्रप्नवानवद् Existing in the womb of the Earth and putting essence in the vegeteble kingdom.

First of all Agn was born in the highest heaven in the shape of lighting. दिवस्परि प्रथर जहाँ अग्निरस्मद्

Agni was born in third Place in water for the benefit of mankind
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्त्रमिन्ध चव एवं जरते स्वाधी

O Agni : Varuna has made you to shine in Sea. yaur brightness is exhibited in the Sun and you are existing in the cloues as lightening.

समुद्र त्वा नमृणा श्रचस्वन्तनृचक्षा इधे दिवो अग्न गधन् ।
तृतीये त्व रजसि तस्थिवासमपानयस्थे महिषा श्रवर्धन् ।। (Rip 10-68-3)

When Agni (lightening) falls on earth from the Sky, there is thundering sound. it then appears in pures form !t has special significance then as it connects earth to sky.

अकन्ददग्नि: स्तनयन्तिव द्यौ क्षमा रेरिहद्वीरूध: समञ्जन ।

सद्यो जज्ञानो वि हीमिदो अख्यदा रोहसों भानुना भात्यन्त: ।। (Ris 10-45-4)

Agni is called दूतं - हव्यवाहन - हविवाहथ ।

It is messenger between heaven and earth (Rig 10–44–2

It transmits the oblations to Gods.

Without which the Gods never get

It is होतारम (invoker)

It is देवदूत (messenger) — significance of Agni lies is the fact that through sacrifice and worship to Gods

अग्नेय यज्ञमध्वरं विश्वत: परिभूरसि

स इद्देवेषु गच्छति (Ref 1.4.4

Since a learned, a wise man, a preacher, is like a leader so at places in vedic literature as preacher is also known as Agni. At the time of thread bearing ceremony. The preacher is descrildd as Agni

अग्निराचार्यस्तव असौ - अग्निराचार्यस्य वाहमाचयिस्त: (Pra 2.2)

Acharya Yask in Nirukta while defining Agni includes the word preacher therein

अग्नि: कस्मादग्रणी भवति । अग्रे यज्ञेषु प्रणीयते

अण्गनय ति सनममान;

अन्कोपनो भवति त्रिम्य आरम्यतेभ्यातेम्यो जायत्रे

शकपूणिरितादताद दग्धाद् वा नीतात् ।। (Nirukta)

CONCLUSION

Leader, sacrificial fire, soul residing in the body, lightening, preacher who imports knowledgs and heat – energy are all indicative of the word AGNI. The follwing mantra clearly offoums the fact

अग्नि वो देवयज्यग्नि प्रमत्यध्वरे

अग्नि धीषु प्रथम मग्रिमवंत्यग्नि क्षैत्राम साधसे ।। (Ris 8-71-12)

I praise Agni for inaugration of sacrifice,
I praise Agni for elevation of sacrifice,
I praise Agni for the attainment of land,
I praise Agni as agitator.
I praise Agni the first and the formost in intellects.





मुद्रकः- ओम् प्रिन्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, नील खुदाना, ज्वालापुर (फोन : ३००)